सत्साहित्य-प्रकाशन

सेतुबंध

—मानव-जाति के प्रेमी महापुरुषों के संस्मरण—

बनारसीदास चतुर्वेदी

•

१९६२

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली.

पहली बार : १९६२
मूल्य :
दो रुपये

मुद्रक
युगान्तर प्रेस
दिल्ली

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में कई ऐसे विदेशी महानुभावों के संस्मरण दिये गए हैं, जिन्होंने बिना किसी भेद-भाव के मानव-जाति की सेवा की। ये महापुरुष किसी भी धर्म, विश्वास अथवा देश से बंधे न थे, बल्कि उनका हृदय सबके लिए खुला और प्रेम से भरा था। ऐसे व्यक्ति कहीं भी पैदा हों, सबके हैं, और उनकी सेवाओं से मानव-जाति समृद्ध होती है।

रेखा-चित्र के क्षेत्र में प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान लेखक का अपना विशेष स्थान है। उनकी लेखनी से ऐसे-ऐसे चित्र अंकित हुए हैं, जिन्होंने पाठकों पर गहरा प्रभाव डाला है।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक की रचनाएं पाठकों को न केवल रुचिकर होंगी, अपितु उनके हृदय को विशाल और उनकी दृष्टि को व्यापक बनाने में भी सहायक होंगी। पाठक देखेंगे कि इस दुनिया के कोने-कोने में ऐसे मूर्द्धन्य व्यक्ति हुए हैं और आज भी हैं, जिन्होंने अपने जीवन द्वारा कभी उन सीमाओं को नहीं माना, जो मानव को मानव से पृथक करती हैं। उन्होंने सबको प्रेम किया, सबकी सेवा की।

आशा है, इस पुस्तक का सर्वत्र स्वागत होगा।

—**मंत्री**

भूमिका

आज से हज़ारों वर्ष पहले की बात है। रावण जगन्माता सीताजी को चुराकर लंका में ले गया था और भगवान् रामचन्द्रजी ने नल-नील की सहायता से सेतुबंध रामेश्वर का पुल तैयार किया था। आज पारस्परिक विद्वेष-रूपी दानव ने शांति-माता का हरण कर लिया है और मानव-समाज अत्यन्त क्षुब्ध तथा पीड़ित है। आज फिर सेतुबंध की आवश्यकता आ पड़ी है, पर यह सेतु समुद्रों अथवा नदियों को पाटने के लिए नहीं होगा, बल्कि देश-देश, जाति-जाति तथा मनुष्य-मनुष्य के हृदयों के बीच में जो महान् अंतर आ पड़ा है, उसको पाटने के लिए इस पुल का निर्माण होगा। त्रेतायुग में तो इस पुल को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी ने पाटा था और इस युग में महा-मानव (अखिल मानव-समाज) को इस उद्योग में सम्मिलित होना होगा।

भगवान् गौतम बुद्ध ने ढाई हज़ार वर्ष पूर्व कहा था :

न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः॥

—"यहां (संसार में) वैर से वैर कभी शांत नहीं होता, अवैर से ही शांत होता है, यही सनातन धर्म (नियम) है।"

आज मानव-समाज को ऐसे सहस्रों-लक्षों व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो संसार से पारस्परिक विद्वेष को दूर करने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न करें।

भारतवर्ष में जिस त्रिमूर्ति ने इस महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए

उद्योग किया, (महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबंधु ऐण्ड्रूज़ और महात्मा गांधी) वे तीनों ही आज इस संसार में नहीं हैं। यूरोप में इस पथ के महान पथिक रोमां रोलां भी महाप्रस्थान कर चुके हैं।

प्रारंभ में ही एक बात मुझे स्वीकार कर लेनी चाहिए, वह यह कि ऐसे प्रश्न पर, जिसका संबंध संपूर्ण मानव-समाज से है, कोई मौलिक विचार प्रकट करने की योग्यता मुझमें नहीं है। मेरे जैसे साधारण आदमी के लिए यही उपयुक्त है कि वह इंजीनियर बनने की महत्वाकांक्षा को तिलांजलि देकर ईंट-पत्थर ढोनेवाले मज़दूर के परिश्रमयुक्त कार्य को अंगीकार कर ले। दूसरी बात, जो हमें न भूलनी चाहिए, वह यह है कि पुल का निर्माण तो तभी हो सकता है, जब दोनों किनारों की भूमि की ऊंचाई बराबर हो। जहां एक किनारा आसमान से बातें कर रहा हो और दूसरा पाताल में धंसा हुआ हो, वहां पुल कैसे बनेगा ? स्वाधीनों और पराधीनों के बीच की खाई तबतक दूर नहीं हो सकती, जबतक कि दोनों के संबंध में मूलतः परिवर्तन न कर दिया जाय। इस परिस्थिति में सबसे अधिक श्रेय उन महानुभावों को मिलना चाहिए, जो मानव-समाज में साम्यवाद या सर्वोदय फैलाने के उद्योग में संलग्न हैं।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण ज्ञान, जिसका प्रचार किसी लेखक या संपादक द्वारा मानव-समाज में किया जा सकता है, यही है, कि मानव-समाज एक है और उसके हित एक-दूसरे से इतने संबद्ध हैं कि मानव-समाज के किसी एक अंग की हानि से संपूर्ण समाज की हानि हो सकती है। भगवान् ने गीता में कहा था :

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं निद्धि सात्विकम्॥

—"जिस ज्ञान के द्वारा परस्पर भिन्न रूप से प्रतीत होते हुए समस्त चराचर भूतों में सर्व-व्यापक, एकरूप, अद्वितीय एवं अविनाशी परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि हो, उसे सात्त्विक ज्ञान समझो।"

रोमां रोलां ने अपनी पुस्तक 'फोर रनर्स' (अग्रगामी अथवा पथ-

प्रदर्शक) में लिखा है—"यदि एक दम्पती के औसतन् तीन बच्चे माने जायं तो इक्कीस पीढ़ी में अथवा यों कहिये पांच सौ वर्ष में एक दम्पती की संतानों की संख्या संपूर्ण संसार की जन-संख्या के बराबर हो जायगी। गणित के इस तर्क द्वारा यह सिद्ध होता है कि पांच सौ वर्ष पहले जो मानव-समाज था, उसमें से प्रत्येक मनुष्य का कुछ अंश आज के संसार के प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है। इसलिए किसी भी आदमी को किसी भिन्न जाति अथवा अलग राष्ट्र में संकुचित कर देना महज़ हिमाक़त है।"

जीव-विज्ञान के महान् रूसी आचार्य जैनिकी ने अपने प्रयोगों से यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव-समाज के मूल में एक ही बीज विद्यमान है—एक ही प्रकार के अणु से, जो सबमें सम्मिलित है, असंख्य मानव-समाज की उत्पत्ति हुई है।

जी. एफ. निकोलाई नामक जर्मन विद्वान् ने, जिसे पिछले महायुद्ध में अपने देश से भागना पड़ा था, 'बायोलोजी आव वार' (युद्ध का जीव-विज्ञान) नामक पुस्तक लिखी थी और उसमें भी इसी सत्य का उद्‌घाटन किया था।

विज्ञान की इन विद्वत्तापूर्ण बातों का संग्रह तो सुशिक्षित व्यक्तियों के लिए होना चाहिए, पर साधारण जन-समाज को तो सीधी-सादी भाषा में लिखे हुए ऐसे ग्रंथ, ट्रैक्ट अथवा लेख चाहिए, जिनमें भिन्न-भिन्न देशों तथा जातियों के महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्त हों और जिन्हें पढ़कर जनता को यह विश्वास हो जाय कि लोक का कल्याण करनेवाली आत्माएं सभी जातियों अथवा देशों में जन्म लेती हैं। जिस समय महात्मा गांधीजी ने लिखा था कि जबतक अंग्रेज़-जाति में एक भी ऐण्ड्रूज़ विद्यमान है तबतक हम अंग्रेज़-जाति से द्वेष नहीं कर सकते, उस समय उन्होंने एक अत्यंत दूरदर्शितायुक्त तथा महत्त्वपूर्ण बात कही थी।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक चिट्ठी में दीनबंधु ऐण्ड्रूज़ को लिखा था—"किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के विषय में फैसला देते

हुए हमें उस जाति अथवा राष्ट्र के सर्वोत्तम पुरुषों को ही ध्यान में रखना चाहिए ।"

स्वयं हम यही चाहते हैं कि भारत के विषय में निर्णय करते समय विदेशी लोग महात्माजी तथा कवीन्द्र के गौरव को ध्यान में रक्खें ।

एक बात और है, जो हमें नहीं भूलनी चाहिए । वह यह कि जिन लोगों को हमने अपना विरोधी समझ रक्खा है, उनके दुर्गुणों का निरंतर ध्यान करने से हम उन दुर्गुणों को ग्रहण कर लेंगे। आयरलैण्ड के महान लेखक, कवि और चित्रकार स्वर्गीय जार्ज रसैल (ए० ई०) ने अपनी एक पुस्तक में लिखा था, "राष्ट्रीय आवेशों में जातीय विद्वेष सबसे अधिक सस्ती और सबसे अधिक नीच भावना है, और जिस तरह प्रेम के विषय में यह प्राकृतिक नियम है कि जिससे प्रेम करोगे उसीके तद्रूप हो जाओगे, उसी प्रकार द्वेष का भी यही नियम है । जिसका हम निरंतर ध्यान करते हैं, उसीके रूप में हम परिवर्तित हो जाते हैं । जिसकी हम पूजा करते हैं, उच्च भावों द्वारा, उसीका हम साम्य प्राप्त करते हैं और जिससे हम द्वेष करते हैं, पतित भावना द्वारा तद्रूप हो जाते हैं ।" श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में यही भाव प्रकट किया गया है :

> **"यत्र तत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया ।**
> **स्नेहाद् द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम ।।**
> **कीटः पेशस्कृतं ध्यायान् कुड्यां तेन प्रवेशितः ।**
> **याति तत्साम्यतां राजन् पूर्वं रूपमसन्त्यजन् ।"**

—"देहधारी जीव स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से जिस किसीमें भी सम्पूर्ण रूप से अपने चित्त को लगा देता है, अन्त में वह तद्रूप हो जाता है, जिस प्रकार भृंगी कीट द्वारा अपने बिल में बंद किया हुआ कीड़ा भय से उसीका ध्यान करते-करते अंत में अपने पूर्व रूप को छोड़कर उसीके समान रूपवाला हो जाता है ।"

स्वयं अपनी अन्तरात्मा के हित के लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरों के गुणों का ही चिंतन करें ।

जो महानुभाव बूढ़े हो चुके हैं—ग्रौर ग्रविश्वास ग्रथवा विद्वेष करना ग्रात्मा के बुढ़ापे की निशानी है—उनसे हमें कुछ नहीं कहना, पर नवयुवकों से हम यह ग्राशा ग्रवश्य रखते हैं कि वे इस विद्वेष से ऊपर उठें।

महान कार्य तो महापुरुषों द्वारा ही हो सकते हैं। कुछ वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध ग्रंग्रेज़ विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखकर ग्रन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना पर जोर दिया था ग्रौर इस बात की सिफारिश की थी कि सभी देशों की शिक्षा का क्रम इस विश्वविद्यालय के ग्रादेशानुसार निश्चित किया जाय। उनका कथन था कि जबतक युवकों की शिक्षा-प्रणाली को ग्रपने हाथ में नहीं लिया जायगा ग्रौर भिन्न-भिन्न राष्ट्र ग्रपने युवकों को मनमानी शिक्षा देते रहेंगे, तबतक इस ग्रभागे संसार से महायुद्ध उठ नहीं सकते। तानाशाही देशों में लड़कों को युद्ध के लिए वैसे ही तैयार किया जाता है, जैसे फैक्टरियों में बम इत्यादि। स्वयं ग्रपने देश इंग्लैंड की शिक्षा-पद्धति को वह दोषपूर्ण मानते थे, खास तौर से भिन्न-भिन्न देशों में ऐतिहासिक तथ्यों की पढ़ाई में जिस परस्पर विरोधी नीति से काम लिया जाता है, उस नीति को जड़ से उखाड़ देना वह ग्रत्यन्त ग्रावश्यक समझते थे।

यदि हम लोग ग्रापस में मिलकर प्रारम्भिक पाठशालाग्रों से लेकर मैट्रिक की कक्षा तक के लिए ऐसे पाठ्य-ग्रंथ बना दें, जिनमें ग्रंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से निबंध या पाठ लिखे हों तो उनके द्वारा नवयुवकों तथा नवयुवतियों में सद्भावना का काफी प्रचार हो सकता है।

ग्रभी तक कहीं भी ऐसा पुस्तकालय नहीं है, जहां उन विदेशियों के जीवन-चरित का मसाला मिल सके, जिन्होंने संसार के कल्याण के लिए उद्योग किया था। सम्पादकाचार्य सी. पी. स्काट, पत्रकार-शिरोमणि नैविनसन, कांग्रेस के संस्थापक ह्यूम इत्यादि के जीवन-चरितों के लिए हमें जगह-जगह भटकना पड़ा है। उन पत्रों की पुरानी फाइलें भी चाहिए, जिनका दृष्टिकोण उदार रहा है।

यदि ग्राज कोई विद्यार्थी बिदेशियों तथा भारतीयों के सम्बन्ध के

विषय में थीसिस या प्रबन्ध लिखना चाहे तो एक भी अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तकालय नहीं, जहां बैठकर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके। एक मुश्किल और भी है, वह यह कि हमारे विश्वविद्यालयों ने इस महत्वपूर्ण विषय की ओर अभी ध्यान ही नहीं दिया। जिस प्रकार ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में रोड्स-छात्रवृत्तियां हैं, उसी प्रकार हमारे विश्वविद्यालयों में भी इस विषय के अनुसन्धान के लिए कुछ छात्र-वृत्तियां होनी चाहिए।

जो भी व्यक्ति इस विषय को अपनाना चाहे, उसके पास इतने साधन तो होने ही चाहिए कि वह समानशील व्यक्तियों से बातचीत कर सके और विचार-परिवर्तन द्वारा अपने कार्य को अग्रसर कर सके। मान लीजिये, कोई विदेशी विद्वान या राजनीतिज्ञ दिल्ली अथवा बम्बई-कलकत्ता में आता है। यदि हम उससे मिलना चाहें तो हमें इन स्थानों की यात्रा करनी पड़ेगी। यह कहां से की जाय? उनसे इण्टरव्यू लेने के लिए भी ये यात्राएं आवश्यक हैं।

भिन्न-भिन्न स्थानों पर विदेशी महापुरुषों के विषय में भाषण देने के लिए भी घूमना जरूरी है। उदाहरणार्थ, हमारी यह अभिलाषा है कि देश के तीस-पैंतीस स्थानों को दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के चित्र भेंट किये जायं और वहां उनके विषय में भाषण दिये जायं। खास तौर से मैं उन स्थलों तथा संस्थाओं को चुनना चाहता हूं, जो दीनबन्धु के प्रिय थे अथवा जहां उनका कार्यक्षेत्र विशेष रूप से रहा था। यह कार्य भी व्यय-साध्य है।

पंचशील के इस युग में यह कार्य अत्यंत आवश्यक है और भविष्य में यह महत्त्वपूर्ण माना जायगा, इसमें संदेह नहीं। जो भी युवक अभी से इस उद्देश्य को अपना लेंगे, उन्हें आगे चलकर अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत बनाने में बड़ी सुविधा होगी।

वर्तमान युग को हम उषा के पूर्व का अन्धकार मानते हैं। आखिर मानव-समाज कबतक एक-दूसरे के सिर फोड़ने में आनन्द लेता रहेगा? कभी-न-कभी तो ये मदान्ध राष्ट्र अपनी इन हरकतों से बाज़ आयंगे। द्वेष क्या कभी चिरस्थायी हो सकता है? आज भी परस्पर विरोधी

राष्ट्रों में ऐसे सैकड़ों व्यक्ति विद्यमान हैं, जो वर्तमान विघातक प्रवृत्तियों को तुरन्त ही त्याज्य मानते हैं, पर उनका गला घोंट दिया गया है। वे बोल नहीं सकते। पुल बनानेवाले इंजीनियर लोग परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं और मानव-समाज के बीच की खाई अधिकाधिक चौड़ी होती जाती है। इस निराशामय परिस्थिति में 'सेतुबंध' का कोई कार्यक्रम जनता के सम्मुख रखने में खतरा-ही-खतरा है। पर हम लोगों को निराश हर्गिज़ नहीं होना चाहिए। क्या वह गिलहरी, जिसने भगवान रामचंद्र को सेतुबंध के समय रेती का कण भेंट में दिया था, निराश हुई थी? कहते हैं, गिलहरी की पीठ पर जो लकीरें पाई जाती हैं, वे भगवान द्वारा हाथ से प्रेम करने पर बनी थीं। इसी प्रकार जो भी महानुभाव आज भिन्न-भिन्न जातियों में पारस्परिक सद्भाव फैलाने का उद्योग करेंगे, वे भी अखिल मानव-समाज के प्रेम-पात्र बनेंगे।

स्वार्थ और परमार्थ दोनों की दृष्टि से सेतुबंध का कार्य महान है। हमारे जैसे लाखों ही व्यक्ति जब इसमें अपना जीवन खपा देंगे तब कहीं जाकर यह परिपूर्ण होगा। कब यह सम्पन्न होगा, इसकी चिन्ता हम क्यों करें? भगवान का आश्वासन तो हमारे साथ है ही:

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

—बनारसीदास चतुर्वेदी

९९ नार्थ ऐवेन्यू,
नई दिल्ली.
१ जनवरी '६२

विषय-सूची

सेतुबंध

: १ :

विश्व-नागरिक गैरिसन

"समस्त संसार ही मेरा देश है,

सम्पूर्ण मानव-समाज मेरा देशवासी है।"

जनवरी १६०४ में टाल्स्टाय ने लिखा था, "गैरिसन की खूबी इसी में है कि उन्होंने ही सबसे पहले इस बात की घोषणा की कि मनुष्य-जाति के संचालन में हिंसा का जवाब अहिंसा से देने के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाना चाहिए। यद्यपि उस समय वह अहिंसात्मक उपायों से अमरीका के गुलामों का छुटकारा न करा सके, तथापि उन्होंने पाशविक शक्ति के पंजे से मनुष्यों के छुटकारे का उपाय बतला दिया; इसलिए मानव-समाज की सच्ची उन्नति करनेवालों तथा सर्वश्रेष्ठ सुधारकों में सदैव उनकी गणना की जायगी।"

टाल्स्टाय ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया था कि गैरिसन ने अहिंसावाद का जो समर्थन व्यावहारिक रूप से पचास वर्ष पहले किया था, उसे लोगों ने इतना भुला दिया कि उन्हें वह बात इस प्रकार कहनी पड़ी, मानो वह कोई नवीन सिद्धान्त हो! हम लोगों में से कितनों को इस बात का पता होगा कि गैरिसन ने जनवरी १८३६ में 'नॉन-रेजिस्टेंट' (सत्याग्रही) नामक पत्र निकाला था, जो २६ जून, १८४२ तक जारी रहा? यद्यपि अर्थाभाव के कारण उस पत्र को बन्द कर देना पड़ा, तथापि उससे अमरीकी जनता को स्पष्टतया ज्ञात हो गया कि गैरि-सन शुद्ध अहिंसावादी हैं। आज सवा-सौ वर्ष बाद भी गैरिसन के

विचारों में वही ताजगी है, जो उस समय थी, और उनके कितने ही वाक्य तो ऐसे हैं, जिन्हें पढ़कर यह भ्रम हो जाता है कि ये गांधीजी के लिखे हुए हैं या गैरिसन के !

महात्मा गांधी का जन्म २ अक्तूबर, १८६९ को हुआ था और गैरिसन का स्वर्गवास २४ मई, १८७९ को, यानी गैरिसन के परलोक-गमन के साढ़े नौ वर्ष पहले ही उनके मिशन को पूरा करने के लिए गांधीजी का अवतार हो चुका था। कितना विचार-साम्य है इन दोनों महापुरुषों की विचारधाराओं में !

आज से ७१ वर्ष पहले गैरिसन के सुपुत्रों ने चार मोटी-मोटी जिल्दों द्वारा अपने पूज्य पिताजी का जो साहित्यिक श्राद्ध किया था, वह ऐतिहासिक दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। लगभग दो हज़ार पृष्ठों का वह विस्तृत जीवन-चरित संसार की किसी भी भाषा के लिए गौरवप्रद बन सकता है। अहिंसावादियों को तो गैरिसन-टाल्स्टाय-गांधी इस त्रिमूर्ति के ग्रन्थों का विधिवत् पारायण करना ही चाहिए।

गैरिसन का जन्म १० दिसम्बर, १८०५ ई० में न्यूबरी पोर्ट नामक नगर में हुआ था। उनके पिता एक जहाज़ पर कप्तानी का काम करते थे और उन्हें प्राय: घर से बाहर रहना पड़ता था। उन्हें शराब की लत थी और वह अपनी पत्नी को छोड़कर अन्यत्र चले। उनकी मृत्यु कहां हुई, इसका पता भी नहीं चल सका ! गैरिसन की माता अकेली रह गईं। उन्हें तीन बच्चों का पालन-पोषण करना था, जिनमें सबसे बड़ा कुल जमा सात वर्ष का ही था और गैरिसन की उम्र तीन से भी कम थी ! बड़ी हिम्मत के साथ उन्होंने इस घोर संकट में अपनी संतान के अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की। छुटपन से ही गैरिसन ने स्वावलम्बन का जो महान् पाठ पढ़ा, वह जीवन-पर्यन्त उनके बहुत काम आया। पहले तो वह एक चमार के यहां जूते बनाने का कार्य सीखने लगे और तत्पश्चात् उन्होंने बढ़ईगीरी सीखी। इन दोनों कामों में उनका मन नहीं लगा, इसलिए तेरह वर्ष की उम्र में वह 'न्यूबरी पोर्ट-हेराल्ड' में

कम्पोजीटरी का काम सीखने के लिए नौकर होगये। शुरू में टाइपों को देखकर उनकी तबीयत बड़ी घबराई और वह सोचने लगे कि यह काम तो मुझसे कभी न बन सकेगा, पर धीरे-धीरे वह ऐसे कुशल कम्पोज़ीटर बन गये कि प्रेसवाले उनसे अत्यन्त प्रसन्न रहने लगे। फिर तो उन्हें कम्पोज़ीटरी में रस आने लगा। कम्पोज़ीटरी का काम उन्होंने १८१८ में प्रारम्भ किया था और उसके ठीक साठ वर्ष बाद ७३ वर्ष की उम्र में उन्होंने उसी हेराल्ड पत्र में जाकर अपनी कम्पोज़ीटरी-वृत्ति की स्वर्ण-जयन्ती मनाई! और इससे भी अधिक गौरव की बात यह थी कि उस दिन उन्होंने जो कुछ कम्पोज़ किया, उसमें एक भी गलती उन्होंने नहीं की थी! सम्पादक हो जाने के समय तक वह इतने बढ़िया कम्पोज़ीटर बन चुके थे कि अपने सम्पादकीय लेखों को बिना लिखे हुए योंही कम्पोज़ कर दिया करते थे!

एक बार उन्होंने बिना अपने हस्ताक्षर के एक लेख 'हेराल्ड' को ही भेज दिया। उसके सम्पादक को वह लेख पसन्द आ गया और उन्होंने उसे गैरिसन को ही कम्पोज़ करने के लिए दे दिया। बहुत दिन बाद उन्हें पता लगा कि उक्त लेख का लेखक उन्हीके पत्र का एक कम्पोज़ीटर है! सन् १८२६ में गैरिसन ने अपना एक स्वतन्त्र पत्र निकाला—'फ्री प्रेस'। तत्पश्चात् वह 'नेशनल फिलेनथ्राफिस्ट' के सम्पादक बने और फिर 'जरनल ऑव दी टाइम्स' के। जनवरी १८३१ में 'लिबरेटर' का प्रारम्भ हुआ और २९ दिसम्बर, १८६५ तक वह ही उस पत्र का सम्पादन करते रहे। उनके पैंतीस वर्ष का यह सम्पादन-काल अमरीका के राजनीतिक इतिहास में तो स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य सिद्ध हुआ ही, संसार की पत्रकार-कला के इतिहास में भी उसका एक प्रमुख स्थान है। भारतवर्ष में तो, जहांतक हम जानते हैं, केवल स्वर्गीय रामानन्द चट्टोपाध्याय ही गैरिसन की कोटि में रखे जा सकते हैं। जहांतक नैतिकता का और अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि के अनुसार लिखने का प्रश्न है, ये दोनों महापुरुष समानशील थे।

३ अक्तूबर, १८२८ को 'जरनल ऑव दी टाइम्स' के प्रथम अंक में उन्होंने अपनी सम्पादकीय नीति की जो घोषणा की थी, वह आज सवा सौ वर्ष बाद भी ज्यों-की-त्यों सजीव विद्यमान है—"पहली बात जो हमें कहनी है, वह यह है कि हमारा यह पत्र 'स्वाधीन' होगा—स्वाधीनता के सबसे अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण अर्थों में—कोई स्वार्थ उसके मार्ग में बाधक न हो सकेगा, कोई सम्प्रदाय उसको पक्षपाती न बना सकेगा और कोई भी शक्ति उसपर अपना रोब न गांठ सकेगी। इस पृथ्वी पर जो भी क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी रेंगते हुए नजर आते हैं, उनमें क्षुद्रतम है एडीटर या सम्पादक कहलानेवाला वह जीव, जिसमें जनता की बुराइयों का घोर विरोध करने की हिम्मत नहीं, किसी पार्टी के पागलपन का मुकाबला करने का साहस नहीं, जिसमें सत्य कहने तथा सत्य पर अड़े रहने का दम नहीं, (चाहे नतीजा कुछ भी क्यों न हो !), बड़े आदमियों की धूर्त्तता पर आक्रमण करने की शक्ति नहीं, दम्भियों का भंडाफोड़ करने की ताकत नहीं, जो शत्रुओं की भृकुटि का सामना अपनी मित्रता-युक्त मुस्कराहट से नहीं कर सकता और जो ख़तरों से डरता है। ऐसा सम्पादक ही सबसे अधिक घृणित, पतित और ज़मीन पर रेंगनेवाला अवसरवादी जीव है और उसे रगड़ देना चाहिए, ताकि वह जनता के हितों के विषय में दस्तन्दाज़ी न कर सके।"

अपने लेखक-जीवन के ५५ वर्षों में गैरिसन ने इसी आदर्श को अपने सम्मुख रखा और उसके लिए उन्हें घोर कष्टों का सामना करना पड़ा। दास-प्रथा को बन्द कराने के लिए उन्हें जो घनघोर आंदोलन करना पड़ा, उससे कई बार उनकी जान तक खतरे में पड़ गई। एक बार तो गुलामी-प्रथा के पक्षपाती पांच हज़ार आदमियों ने उन्हें करीब-करीब नंगा करके और कमर में रस्सी डालकर बोस्टन की सड़कों पर घसीटा था। यह दुर्घटना २१ अक्तूबर, १८३५ को घटी थी। गैरिसन उस समय स्त्रियों की दास-विरोधी एक सभा में भाषण दे रहे थे। इन पांच हज़ार आदमियों ने उस स्थान को घेर लिया। शेष वृत्तान्त गैरिसन के ही शब्दों

में सुन लीजिये :

"जब चारों ओर हो-हल्ला हो रहा था, एक भाई, जो दास-प्रथा के विरोधी थे, पर जिनके मन में अभी इस बात का ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया था कि गुलामी की प्रथा को दूर करने के लिए शान्तिपूर्ण उपायों से काम लेना चाहिए अथवा हथियारों का भी प्रयोग करना चाहिए, घबरा गये। उन्हें इस बात की चिन्ता से बड़ा दुःख हुआ कि मेरी (गैरिसन की) जान अब कैसे बचेगी, और साथ ही नगर के शासकों की लाचारी पर भी उन्हें क्षोभ हुआ। क्रोध तथा क्षोभ से भरे हुए वह बोले, 'अब आज से मैं हिंसा का विरोध शान्ति से करने के सिद्धान्त को तिलांजलि देता हूं। जब शासक हमारी रक्षा करने में असमर्थ प्रतीत होते हैं, मेरे निज के अधिकार पददलित करके धूल में मिला दिये जाते हैं तथा गुंडों से मेरे मित्रों के जीवन खतरे में पड़ जाते हैं, तो मेरा यह कर्तव्य है कि मैं, चाहे जिस तरह हो, शस्त्रों द्वारा रक्षा के लिए उद्यत रहूं।' मैंने अपने मित्र के कन्धे पर हाथ रखकर कहा, 'मेरे प्यारे भाई, सावधान ! तुम नहीं जानते कि तुममें कितनी शक्ति है ! यही संकट तो हमारे विश्वास तथा हमारी सहनशीलता की कसौटी है। हमारे शान्ति तथा क्षमा के सिद्धान्त किस काम के, यदि हम संकट तथा खतरे के वक्त उनको छोड़ दें ? क्या तुम उन हिंसात्मक तथा खून के प्यासे आदमियों के समान बनना चाहते हो, जो मेरी जान लेने के लिए बाहर इकट्ठे हैं ? क्या हम घूंसे का जवाब घूंसे से देंगे और तलवार के मुकाबले में तलवार उठायेंगे ? परमात्मा ऐसा न करे ! मैं खुद मर जाना कहीं अधिक पसन्द करूंगा, बनिस्बत इसके कि अपना हाथ अपनी रक्षा के लिए भी किसी आदमी पर उठाऊं। यह मैं हर्गिज़ नहीं चाहता कि कोई भी आदमी मुझे बचाने के लिए हिंसा का आश्रय ले। अगर ये लोग मेरी जान ले भी लेंगे, तो भी गुलामों की स्वाधीनता का कार्य रुकनेवाला नहीं। परमात्मा हम सबपर शासन करता है और इस तूफान से उसका आसन विचलित नहीं हो सकता। अन्त में उसी सर्वशक्तिशाली के सिद्धान्त की

विजय होगी।"

यदि गैरिसन की रक्षा के लिए अस्त्रों का प्रयोग किया गया होता तो अवश्य ही उनकी जान चली जाती। उन आदमियों ने जब अहिंसाव्रती गैरिसन को पकड़ लिया, तो फिर उनकी कमर में रस्सी बांधकर उनको बोस्टन की सड़कों पर खूब घसीटा। उनका विचार अन्त में गैरिसन को मार डालने का था, पर इतने में बोस्टन के मेयर पुलिस लेकर वहां जा पहुंचे और उन्होंने गैरिसन के प्राण बचा लिये! घटनास्थल के प्रत्यक्ष-दर्शियों ने यह बात कही थी कि उस संकट के समय भी, जब वह घसीटे जा रहे थे, गैरिसन के चेहरे पर अशान्ति का नामोनिशान भी न था।

"जो लोग हमारे साथ घृणा का बर्ताव करें, उनके लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिए; इस आदेश की उत्तमता तथा उच्चता को मैं अनुभव करता हूं और साथ ही मुझे वह उपदेश भी बहुत ऊंचे दर्जे का मालूम होता है कि जो आदमी तेरे एक गाल पर तमाचा मारे, उसके सामने तू दूसरा गाल भी कर दे...पाशविक बल का प्रयोग करते हुए लड़ने में हम अपनी आत्माओं का पतन करते हैं। दुष्टों को न्यायालयों से दंड दिलवाना अथवा कमज़ोरों की रक्षा के लिए और उनपर किये गए अत्याचारों का बदला लेने के लिए सिपाहियों के समूह का प्रयोग करना सुनने में तो बड़ा आकर्षक मालूम होता है, पर मेरे कानों को तो उसकी ध्वनि खोखली ही प्रतीत होती है।"—ये अहिंसा के प्रबल समर्थक गैरिसन के शब्द हैं। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, गैरिसन के वाक्यों को पढ़ते हुए कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम महात्मा गांधी के ही वाक्यों को पढ़ रहे हैं।

एक और नमूना देखिये—"मानव-समाज के इतिहास से इस बात के बहुत-से प्रमाण मिल सकते हैं कि नैतिक उद्धार के लिए शारीरिक बल का प्रयोग उपयुक्त नहीं। मनुष्यों की पापमय प्रवृत्तियां केवल प्रेम से ही वश में की जा सकती हैं। संसार से बुराई को दूर करने का केवल एक ही मार्ग है—यानी भलाई करना।...जो तलवार का सहारा

लेते हैं, जो हिंसक हैं, वे तलवार के द्वारा ही नष्ट होंगे। इसीलिए हम अहिंसा के सिद्धान्त को हृदय से स्वीकार करते हैं, क्योंकि हमारा यह विश्वास है कि नैतिक दृष्टि से यह सिद्धान्त बिल्कुल पक्का है। जमीन-जायदाद की रक्षा की दृष्टि से, जीवन तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए, सार्वजनिक शान्ति के लिए और व्यक्तिगत सुख के लिए भी हम अहिंसा के सिद्धान्त को उपयोगी समझते हैं...यह सिद्धान्त सर्वशक्तिमान है और यह अपने पर आक्रमण करनेवाली प्रत्येक शक्ति पर अन्त में विजय प्राप्त करेगा। यदि हम अपने सिद्धान्त के पक्के हों, तो फिर यह हमारे लिए असम्भव होगा कि हम कोई दंगा करें, देशद्रोह के लिए षड्यन्त्र रचें अथवा किसी निन्दनीय कार्य में भाग लें। उन कानूनों को छोड़कर, जो हमारे धर्मशास्त्र के विरुद्ध हैं, हम सब सरकारी कानूनों को मानेंगे, कानून के मार्ग में बाधक न होंगे; लेकिन धर्म-विरोधी कानूनों को तोड़कर हम उनकी सजा नम्रतापूर्वक स्वीकार करेंगे।"

सितम्बर १८३८ में—यानी आज से १२३ वर्ष पूर्व—गैरिसन ने ये वाक्य कहे थे। गैरिसन के उक्त वाक्यों में और महात्माजी के निम्नलिखित वाक्यों में, जो करीब सौ वर्ष बाद उन्होंने कहे थे, कितनी समानता है—

"हम हिंसा नहीं चाहते। स्वतन्त्रता हमारा अधिकार है। वह हमें जीवन से भी अधिक प्रिय है, हम उसे जीतेंगे या मर जायंगे, लेकिन हम ग़लत तरीका अख़्त्यार नहीं करेंगे। हम मारेंगे नहीं, और न अपने मिटानेवालों को हम कोई नुकसान पहुंचायेंगे और न उनसे घृणा करेंगे।"

निस्सन्देह गैरिसन की आत्मा महात्माजी की पथ-प्रदर्शक थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि महात्माजी के अनुयायी श्री कैलेनबैक के पास गैरिसन के जीवन-चरित की वे चार जिल्दें अफ्रीका में थीं, जिनके आधार पर आज हम ये पंक्तियां लिख रहे हैं। स्वयं महात्माजी ने हमें वह ग्रन्थ आज से ३५ वर्ष पहले भेजा था। तत्पश्चात् उसकी नवीन प्रति हमने

अमरीका से मंगा ली ।

गैरिसन को अपने आन्दोलन में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई । उनके पत्र 'लिबरेटर' का प्रभाव इतना ज़बरदस्त हो गया कि परिणाम-स्वरूप अमरीका में ऐसी दो हज़ार समितियां कायम हो गईं, जिनका मुख्य उद्देश्य दास-प्रथा का विरोध करना था और उनके सदस्यों की संख्या दो लाख तक पहुंच गई ! यद्यपि यह कहना तो असत्य होगा कि गुलामी के बन्द कराने का सम्पूर्ण श्रेय गैरिसन को ही दिया जाय, क्योंकि इस यज्ञ में उनके अनेक साथी-संगी और भी थे और 'टाम काका की कुटिया' नामक पुस्तक ने भी, जो श्रीमती स्टो की लिखी हुई थी, उक्त प्रथा को बन्द कराने में महत्त्वपूर्ण सहायता दी थी; तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस विषय में गैरिसन की सेवाएं अद्वितीय थीं । वैसे अब्राहम लिंकन ने भी ज़बरदस्त काम किया था; पर गैरिसन यदि वर्षों पहले से सार्वजनिक मत तैयार न कर देते, तो लिंकन के लिए गुलामों की मुक्ति की घोषणा करना असम्भव था । अपनी पैंतीस-चालीस वर्षीय साधना के बाद उन्हें जब १८६५ में महान् सफलता प्राप्त हुई और उनकी लोक-प्रियता में असीम वृद्धि हो गई, तो उन्होंने बड़ी विनम्रता के साथ उसे स्वीकार किया ।

यद्यपि गैरिसन को अपने जीवन में बहुत यश प्राप्त हुआ और बड़े-से-बड़े आदमियों ने उनकी तारीफें कीं, जिन्हें उन्होंने भुला दिया, तथापि एक प्रशंसा को वह कभी नहीं भूल सके । गैरिसन की लड़की फैनी गैरिसन ने लिखा है—"लन्दन पहुंचने पर सर फोवेल बक्सटन ने गैरिसन को अपने यहां निमंत्रित किया । गैरिसन निश्चित समय पर ही उनके यहां पहुंचे । उन्हें देखकर बक्सटनसाहब कुछ चकराये और बोले—'क्या मुझे बोस्टन नगर के निवासी मि० गैरिसन से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है ?' गैरिसन ने जवाब दिया—'हां, जनाब, मैं ही हूं और आपका निमंत्रण पाकर यहां हाज़िर हुआ हूं ।' यह सुनकर बक्सटन-साहब दंग रह गये । फिर बोले, 'अच्छा ! मैं तो यह समझे हुए था कि

आप कोई काले आदमी या नीग्रो होंगे !' कोई भी गोरा आदमी नीग्रो लोगों की सेवा ऐसी लगन के साथ कर सकता है, इसकी कल्पना भी बक्सटनसाहब न कर सके थे !"

गैरिसन का जीवन एकांगी नहीं था। धार्मिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में. शराबबन्दी के पक्ष में और स्त्रियों को समानाधिकार दिलाने के लिए भी उन्होंने बहुत काफी कार्य किया था। किसी भी प्रकार के अन्याय अथवा अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करने में उन्होंने कभी भी संकोच नहीं किया। अपने स्वर्गवास से तीन महीने पूर्व उन्होंने अमरीकी सरकार के चीनी लोगों का प्रवेश रोकनेवाले बिल का प्रबल विरोध किया था और मानवीय अधिकारों की जोरदार घोषणा की थी। उनका अन्तिम लेख, जो चौबीस अप्रैल १८७९ को प्रकाशित हुआ था, दीन-हीन काले मज़दूरों के पक्ष में था। उसके एक महीने बाद २४ मई, १८७९ को तो उनका स्वर्गवास ही हो गया।

गैरिसन के ये शब्द कि 'समस्त संसार ही हमारा देश है और संपूर्ण मानव-समाज हमारे देशबन्धु' युग-युगान्तर तक आकाश में गूंजते रहेंगे। निस्सन्देह गैरिसन 'विश्व-नागरिक' थे और अहिंसावादियों में अग्रगण्य।

: २ :

मेरी फोस्टर

..चारों में बड़ी ज़बरदस्त शक्ति है। आज जो सद्विचार आपके ..ा में उत्पन्न होता है, सम्भव है, बीस-पच्चीस वर्ष बाद वह ऐसा मनोहर रूप धारण करले, जिसकी कभी कल्पना भी आपने न की हो। आज से बहुत वर्ष पहले श्रीलंका से एक नवयुवक गया तीर्थ की यात्रा करने के लिए आया था। २२ जनवरी, १८६१ को वह वहां पहुंचा और वहां उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भारत में बौद्धधर्म को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। बस, उसी दिन उसने यह प्रतिज्ञा की कि मैं अपना जीवन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्पित कर दूंगा। इन ७० वर्षों में दुनिया कहां-की-कहां चली गई। स्वयं अनागारिक धर्मपाल (यही उस नवयुवक का नाम था) स्वर्गवासी होगये। पर सैकड़ों कष्टों को भोगकर उन्होंने जो बीज बोया था, वह अब धीरे-धीरे एक मनोहर वृक्ष का रूप धारण कर रहा है और इस पौधे को सींचने में जिस महान् आत्मा ने सबसे अधिक सहायता दी, वह कोई भारतीय नहीं थी, उस भारतवर्ष से, जहां भगवान गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था, उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, और न वह आत्मा चीन, जापान, बर्मा, सीलोन, कम्बोडिया, स्याम आदि की थी, जहां के बौद्ध अनुयायी करोड़ों की संख्या में हैं। वह प्रशान्त महासागर के द्वीप होनोलूलू की एक गोरी महिला थी। हमारे देश के कितने निवासी इस बात को जानते होंगे कि श्रीमती मेरी फोस्टर ने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ आठ लाख रुपये का दान

दिया था ? हम लोगों का, जो अपनेको हिन्दू कहते हैं और जो बुद्ध को भगवान का अवतार मानते हैं, कर्तव्य है कि हम कृतज्ञतापूर्वक उस महिला का स्मरण करें, जिसने हमारे देश की एक महान् विभूति की स्मृति के लिए यह महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

श्रीमती मेरी फोस्टर का जन्म २१ सितम्बर, १८४४ में एक धनाढ्य कुल में हुआ था। ४९ वर्ष की उम्र में १८ अक्तूबर, १८९३ को पहले-पहल उन्होंने श्री अनागारिक धर्मपाल के दर्शन एक जहाज़ पर किये। धर्मपाल श्रीलंका के बौद्धधर्मावलम्बियों की ओर से शिकागो के सर्वधर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए गये थे। जब वह सम्मेलन समाप्त हुआ तो सम्मेलन की परामर्शदात्री सभा के प्रधान रैवरेंड डा० जान हेनरी बैरोज़ ने धर्मपालजी को शिकागो से सीलोन की यात्रा के लिए टिकट खरीद दिया। ओसैनिक नामक जहाज होनोलूलू होता हुआ श्रीलंका आनेवाला था। जब जहाज़ होनोलूलू पहुंचा तो श्रीमती फोस्टर तथा उनके साथी जहाज़ पर चढ़ आये। श्रीमती फोस्टर ने धर्मपाल से पूछा, "क्या बौद्धधर्म कोई ऐसा उपाय बतला सकता है कि जिससे मैं अपने अदम्य क्रोध का दमन कर सकूं ?"

धर्मपाल ने उत्तर दिया, "हां, बुद्ध भगवान ने इसका उपाय बतलाया है। आप अपनी इच्छा-शक्ति को प्रबल बनाइये, और बार-बार दृढ़ता-पूर्वक यह कहिये—'मैं कदापि क्रुद्ध नहीं होऊंगी, मैं अपने क्रोध का दमन करूंगी', इस प्रकार आप सफल होंगी।"

श्रीमती फोस्टर ने इस शिक्षा के अनुसार कार्य किया, और इसमें उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली। तबसे वह स्वयं ही धर्मपाल को समय-समय पर थोड़ा-बहुत रुपया भेज दिया करती थीं, पर सन् १९०२ के पूर्व धर्मपाल ने उनसे कुछ मांगा नहीं था। अगस्त १९०२ में जब धर्मपाल कैलीफोर्निया में थे, तो उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सारनाथ में एक कृषि-विद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए, और इस विषय में उन्होंने श्रीमती फोस्टर को लिखा। उन्हों· तुरन्त ५००

डालर इस कार्य के लिए भेज दिये। श्रीमती फोस्टर ने इसके बाद जो दान दिया, उसका योग आठ लाख रुपये से कम न होगा। उनका दान-शीलता से किन मुख्य-मुख्य संस्थाओं को कितनी सहायता मिली है, इसका ब्यौरा निम्नलिखित है :

	रुपये
बौद्धधर्म-प्रचारक-कार्यालय, लंदन	६७०५१
बेनियापूकर लेन कलकत्ता का मकान	२००००
मूलगंधकुटी-विहार, सारनाथ	३००००
धर्मराजिक विहार, कलकत्ता	६५१२३
महाबोधी सोसाइटी कार्यालय, कलकत्ता	२६०००
कलकत्ते के विहार के लिए भूमि	२१०००
महाबोधी सोसाइटी कार्यालय, कोलम्बो	४६२५०
लन्दन में बौद्धधर्म-प्रचारार्थ	५०६३८
औद्योगिक स्कूल, सारनाथ	१०६९८
फोस्टर राबिनसन फ्री हास्पिटल	६००००

इसके सिवा जायदाद खरीदने में भी (जिससे बौद्धधर्म का प्रचार स्थायी रूप से हो सके) श्रीमती फोस्टर का बहुत-सा रुपया व्यय हुआ था :

महाबोधी सोसाइटी कोलम्बो के पास की जायदाद	१४५०६
स्लेव-द्वीप में जायदाद	२८८३२
मालिगाकांड में विक्टर-हाउस	६०७८४
अनरुद्धपुर की जायदाद	५२६७
कातूगा सोता की जायदाद	१००००

ये तो बड़ी-बड़ी रकमें हुईं, पर जिन संस्थाओं को पांच हज़ार अथवा उससे छोटी रकमें मिलीं, उनकी संख्या भी बहुत काफी है। सबसे बड़ी रकम, जो एक लाख डालर की थी, श्रीमती फोस्टर ने किस भावना से भेजी थी, इसका अनुमान उनकी २१ मई, १९२३ की चिट्ठी से किया जा सकता है। उस चिट्ठी का अनुवाद हम नीचे दे रहे हैं :

शिकागो, २१ मई, १६२३

"मेरे प्यारे भाई,

तुम्हारी १२ अप्रैल की चिट्ठी शिकागो में मुझे आज मिली। १२ मई को मैं सैनफ्रांसिस्को छोड़कर अपनी बहन से मिलने के लिए यहां आ गई हूं और तुम्हारी चिट्ठी भी सैनफ्रांसिस्को से यहां भेज दी गई है।

तुमने अपने ऊपर कम-से-कम खर्च करने के विषय में लिखा है, उसे मैंने पढ़ लिया है, पर जो रुपया तुम्हें भेजा जा रहा है, वह केवल उस कार्य के लिए ही नहीं है, जिसे तुमने उठाया है, बल्कि तुम्हारे निज के आराम के लिए भी है।

जो कुछ तुमने मेरे लिए किया है, उसके लिए मैं तुम्हारी कृतज्ञ हूं। कृपाकर मेरी एक अभिलाषा और पूरी करो। मेहरबानी करके अपनी तन्दुरुस्ती का खयाल रखो। अपनेको आराम दो, सुखी बनाने का प्रयत्न करो और अपनी मां के पास अकसर रहा करो।

अपने उद्देश्य के लिए जीवित रहना सीखो, और ऐसा तुम तभी कर सकते हो, जब तुम अपने स्वास्थ्य का अधिक खयाल रखो और अपनेको अधिक आराम दो।

मेरे भेजे हुए रुपये के विषय में जो ब्यौरेवार हिसाब तुमने भेजा है और जिन भले कामों में तुमने उसे खर्च किया है, उसके लिए मैं तुम्हें धन्यवाद देती हूं।

कितनी बार मैंने तुम्हारे कार्य की आश्चर्यजनक उन्नति के विषय में सोचा है! ऐसा प्रतीत होता है कि इतनी अधिक सफलता प्राप्त करने के लिए तुम्हें बहुत परिश्रम करना पड़ा होगा और तुमने बहुत कम विश्राम लिया होगा।

शब्दों द्वारा मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट कर नहीं सकती। तुम्हारे जैसे निस्स्वार्थ आदमी से मिलने का मुझे अवसर मिला, इसे मैं अपना सौभाग्य ही समझती हूं। जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा था कि हम दोनों

मिलकर काम करेंगे, और इसका जितना गौरव मुझे होगा उतना ही तुम्हें।

अखिलेश्वर करे कि हम फिर मिलें।

तुम्हारी बहन,
मेरी० ई० फोस्टर

कृपया अपनी माताजी को मेरा प्रणाम कहिये।"

यह पत्र कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें नारी-हृदय की कोमलता स्पष्ट झलकती है। श्रीमती फोस्टर को बौद्धधर्म के प्रचार का जितना खयाल था, उतना ही खयाल श्री धर्मपाल के स्वास्थ्य का भी था। जिस चिट्ठी के साथ श्रीमती फोस्टर ने एक लाख डालर यानी तीन लाख साढ़े बारह हज़ार रुपये भेजे थे, उस पत्र में इस बात का ज़िक्र तक नहीं किया कि ये रुपये इस मद में या इस शर्त पर खर्च किये जायं! श्रीमती फोस्टर ने धर्मपाल को पूर्ण स्वाधीनता दे दी थी कि वह चाहे जिस तरह इस रुपये को व्यय करें। पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और प्रेम के साथ सात्त्विक दान देना इसीको कहते हैं; और श्रीमती फोस्टर ने आठ लाख रुपये दान देकर भी धर्मपाल से यह कभी नहीं पूछा कि ये रुपये किस प्रकार खर्च किये जा रहे हैं! विश्वास की भी कोई सीमा है? यहां लोग एक रुपये का दान देते हैं, और फिर उसका हिसाब मांगते हैं! और श्रीमती फोस्टर का धर्मपाल से कोई घनिष्ठ परिचय भी नहीं था। ३८ वर्ष में कुल तीन बार उन्होंने धर्मपाल के दर्शन किये थे।

श्रीमती मेरी फोस्टर ने समय-समय पर जो चिट्ठियां धर्मपाल को लिखी थीं, उनके कुछ अंश यहां उद्धृत किये जाते हैं—

१२ जनवरी, १९१५—"तुम्हारी पिछली चिट्ठी पाकर मुझे अपने ऊपर बड़ी शर्म आई। मैं इतनी स्वार्थिन हूं, यह खयाल करके मुझे बहुत रंज हुआ। कृपाकर विश्वास करो और दिल में इस बात की कभी आशंका न करो कि मैं तुम्हारा साथ छोड़ दूंगी। मेरा स्वास्थ्य खराब है और डाक्टर के कहने से मैं घर छोड़कर यहां आ गई हूं। इसके सिवा

मुझमें लिखने की शक्ति भी नहीं, पर ये सब बहाने हैं। दरअसल मेरी यह 'स्वार्थपरायणता' थी कि मैं सिर्फ अपना ही खयाल करती रही।"

२५ नवम्बर, १९२४—"इस बार मैं अपनी बहन के साथ सैनफ्रांसिस्को में बड़ा दिन बिताऊंगी। बड़ा दिन सदा ही मेरे लिए खेदोत्पादक होता है, क्योंकि उस दिन मुझे अपने प्रिय कुटुम्बियों की, जो स्वर्गवासी हो चुके हैं, याद आ जाती है। तुमने अपने कार्य का वृत्तान्त भेजा, सो मिला। मेरे जन्म-दिवस की तुम खूब याद रखते हो, इसके लिए मैं तुम्हें कहांतक धन्यवाद दूं ? तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की है, पर तुम सारा श्रेय और गौरव मुझे ही देते हो, यह बात ठीक नहीं।

"आओ, हम दोनों मिलकर कार्य के इस आनन्द को भोगें। बिना तुम्हारे भला मैं अकेली क्या कर सकती थी ? यह बात सच है कि मैंने तुम्हें रुपये दिये, पर काम तो तुम्हें ही करना पड़ा, और मुख्य बात तो काम करना है।"

१७ फरवरी १९२५—"तुम बहुत कृतज्ञ हो, और तुम्हारी चिट्ठी से प्रतीत होता है कि तुम अपने काम में जी-जान से लगे हुए हो। मैं भी धन्यवाद देती हूं कि मुझे एक ऐसा मित्र तो मिला, जो मेरी प्रवृत्ति को समझता है। कदापि ऐसा खयाल न करना कि जो कुछ तुम मेरे बारे में लिखते हो, उसके लिए मैं तुम्हारी कृतज्ञ नहीं हूं। तुम मेरी बहुत ज़्यादा तारीफ करते हो। दिनों-दिन तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा होता जाय और तुम बहुत दिनों तक जीवित रहकर अपने बढ़ते हुए कार्य का आनन्द ले सको, यही मेरी प्रार्थना है। मेरी तन्दुरुस्ती ठीक है। सब भली चीज़ों में मुझे आनन्द आता है। मैं सिनेमा देखने जाती हूं और रात को देर तक जग भी सकती हूं। अकसर यह होता है कि हम बारह बजे रात के बाद अपने होटल पर लौटती हैं।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह चिट्ठी श्रीमती फोस्टर ने ८१ वर्ष की उम्र में लिखी थी।

जब फरवरी १९०६ में श्री धर्मपाल के पूज्य पिताजी का देहान्त हो

गया, और इसकी खबर उन्होंने श्रीमती फोस्टर को भेजी, तो उन्होंने जवाब में लिखा था—"पिता की तरह अब मैं तुम्हारी चिन्ता किया करूंगी, तुम मुझे पितृ-तुल्य समझो।"

जब सन् १६२१ में अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने के लिए श्री धर्मपाल श्रीमती फोस्टर से मिलने के लिए होनोलूलू पधारे, तो उक्त महिला ने धर्मपाल को चलते समय साठ हज़ार रुपये दिये और कहा कि इससे कोलम्बो में मेरे पिता, पति और मित्र की स्मृति में एक अस्पताल बनवाना। धर्मपाल ने उनकी इस आज्ञा का पालन किया।

सन् १६१६ से लेकर अबतक इस अस्पताल से लाखों आदमियों का इलाज हो चुका है, और कोलम्बो के गरीब आदमियों का इससे बड़ा हित हुआ है। कोलम्बो की म्यूनिसिपैलिटी ने उस गली का, जिसमें यह अस्पताल स्थित है, नाम ही 'फोस्टर-लेन' रख दिया है। अस्पताल का नाम 'फोस्टर राबिनसन मेमोरियल अस्पताल' है।

आज अनेक संस्थाएं उस महिला का स्मरण दिलाती हैं। (१) धर्म-विहार कलकत्ता, (२) फोस्टर हाउस कलकत्ता, (३) फोस्टर-सैमिनेरी कोलम्बो, (४) फोस्टर-हाल मद्रास, (५) मूलगन्धकुटी-विहार सारनाथ और (६) बौद्ध कार्यालय, लन्दन के लिए हम इसी महिला के ऋणी हैं।

बौद्ध इतिहास में संघमित्ता, विशाखा आदि अनेक ऐसी महिलाओं का वृत्तान्त आता है, जिन्होंने आर्य-धर्म के प्रचारार्थ अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था। श्रीमती फोस्टर की गणना भी बड़े गौरव के साथ इन्हीं महिलाओं में की जायगी।

१६ दिसम्बर, १६३० को ८६ वर्ष की अवस्था में श्रीमती मेरी फोस्टर परलोक सिधारीं। उनकी मृत्यु के कुछ दिन पहले रैवरेंड ई० एच० हुंट नामक एक पादरी उनसे मिलने गये थे। जब वह चलने लगे, तो श्रीमती फोस्टर ने उन्हें भगवान बुद्ध के जीवन-चरित 'लाइट ऑव एशिया' का जो पद्य सुनाया, उसका अनुवाद यह है :

"ग्राज भावना मेरे हिरदै मांहि समानी;
मनुजमात्रकौं ग्रबसि सिखैहौं करुनाबानी।
दु:ख बाढ़िकौं रोक जगतके कष्ट हरौंगे;
मूक जगत कौं भाषाकौं मै दान करौंगो।"

फिर रेवरेंड हंटसाहब से कहा, "मेरी मृत्यु के पश्चात् ग्रन्त्येष्टि के पूर्व तुम चार शब्द कह देना।" तदनुसार रेवरेंड हंटसाहब ने ग्रन्त्येष्टि के समय एक संक्षिप्त भाषण दिया, जिसका सारांश यह था—"हम लोग होनोलूलू के निवासी इस बात मे ग्रपना महान गौरव समझते हैं कि ऐसी महिला हमारे देश में उत्पन्न हुई। उत्तरोत्तर उन्हे बोध प्राप्त हो, यही हमारी प्रार्थना है।"

: ३ :

क्रान्तिकारी क्रोपाटकिन

"जनाब ब्लादिमिर इलियच (लेनिन), जब आपकी आकांक्षा यह है कि हम एक नवीन सत्य के मसीहा बनें और नवीन राज्य के संस्थापक, तो फिर आप किस प्रकार ऐसे बीभत्स सरकारी अनाचारों और गैर-मुनासिब गवर्मेण्टी तौर-तरीकों को अपनी स्वीकृति दे सकते हैं, जैसे कि किसी-के अपराध के लिए उसके नाते-रिश्तेदारों को गिरफ्तार कर लेना ? इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप जारशाही के विचारों से चिपके हुए हैं ! पर शायद उन निरपराध आदमियों को पकड़कर आप अपनी जान की रक्षा करना चाहते हैं। क्या आप इतने अन्धे हो गये हैं और अपने डिक्टेटरशिप के विचारों के इतने गुलाम बन गये हैं कि आपको यह बात नहीं सूझती कि आप-जैसे यूरोपियन साम्यवाद के अग्रणी के लिए यह कार्य (लज्जा-जनक तरीकों द्वारा निरपराधों की गिरफ्तारी) सर्वथा अनधिकार चेष्टा है? आपका यह काम भयंकर रूप से त्रुटिपूर्ण तो है ही, बल्कि उससे यह भी प्रकट होता है कि आप मृत्यु से डरते हैं, जो सर्वथा तर्कहीन बात है। उस कम्यूनिज्म के विषय में क्या कहा जाय, जिसका एक महान रक्षक इस प्रकार ईमानदारी की प्रत्येक भावना को पैरों-तले कुचलता है !"

यह है उस महत्त्वपूर्ण पत्र का एक अंश, जिसे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में (मृत्यु से दो महीने पूर्व) क्रोपाटकिन ने लेनिन को लिखा था। लेनिन उन दिनों विशाल रूसी राज्य के निरंकुश शासक थे और क्रोपाटकिन इकतालीस वर्ष के देश-निकाले के बाद चार वर्ष अपनी मातृभूमि

के दमघोंटू वातावरण में काटकर परलोक-गमन की तैयारी कर रहे थे। इन शब्दों में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के उस महापुरुष की आत्मा बोल रही है, जिसने कभी अन्याय के साथ समझौता करना मुनासिब न समझा, जिसने साधन और साध्य दोनों की पवित्रता पर समान रूप से ज़ोर दिया और जिसने ईमानदारी तथा अपरिग्रह का वह दृष्टान्त उपस्थित कर दिया, जिसकी मिसाल संसार के राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के इतिहास में दुर्लभ ही है।

जब केरेन्स्की ने क्रोपाटकिन से कहा था, "आप हमारे सरकारी मंत्रिमंडल में चाहे जिस पद को चुन लीजिये, वही आपको अर्पित हो जायगा", उस समय क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया था, "मंत्रित्व के कार्य की अपेक्षा तो मैं जूतों पर पालिश करनेवाले चमार का काम अधिक आदरणीय तथा उपयोगी मानता हूं!" इसी प्रकार दस हज़ार रूबल की पेंशन के प्रस्ताव को भी उन्होंने ठुकरा दिया और ज़ार के शीतकालीन महलों के निवास की सर्वथा उपेक्षा की। यह तो हुई लेनिन के पूर्व के शासकों के समय की बात, स्वयं साम्यवादी सरकार के शिक्षा-मंत्री लूनाचरस्की ने जब क्रोपाटकिन को लिखा—"आप सरकार से ढाई लाख रूबल लेकर अपनी किताबों के छापने का अधिकार हमें दे दीजिये", तो क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया, "मैंने कभी शासन से पैसा नहीं लिया और न अब ही सरकारी सहायता ग्रहण कर सकता हूं।" यह उन दिनों की बात है, जब क्रोपाटकिन को वृद्धावस्था के अनुरूप पर्याप्त भोजन भी नहीं मिलता था, जब उनके पास रोशनी की भी कमी थी और जब उनके पास कोई सहायक भी नहीं था।

प्रश्न उठता है कि आदर्शवाद को पराकाष्ठा तक पहुंचा देनेवाले क्रोपाटकिन अपनी गुजर-बसर कैसे करते थे? देश-निकाले के इकतालीस वर्ष उन्होंने अपनी लेखनी के बल-बूते पर ही काट दिये। इसमें भी अराजकवादी लेखों से उन्होंने एक पैसा नहीं कमाया! वह अत्यन्त उच्च-कोटि के वैज्ञानिक थे और वैज्ञानिक लेखों तथा टिप्पणियों से उन्हें कुछ

मजदूरी मिल जाती थी। बड़ी सरलता के साथ उन्होंने अपने आत्मचरित में लिखा है—"अगर रूस से पर्याप्त समाचार आ जाते अथवा वैज्ञानिक विषयों पर मेरे नोट स्वीकृत हो जाते तो रोटी-चाय के साथ मक्खन भी मिल जाता, नहीं तो रूखी रोटी पर ही गुजर करनी पड़ती।"

सुप्रसिद्ध लेखक फ्रैंक हैरिस ने क्रोपाटकिन के विलायत के दिनों के आतिथ्य का एक अच्छा शब्द-चित्र खींचा है—"क्रोपाटकिन की धर्मपत्नी सोफी भोजन तैयार कर रही हैं पति के लिए, छोटी-सी पुत्री के लिए और अपने लिए, कि इतने में कोई अतिथि महोदय न-जाने कहां से आ टपके! क्रोपाटकिन ने शीघ्र ही भीतर जाकर कहा—'सोफी, जरा साग में थोड़ा पानी मिला देना।' थोड़ी देर बाद एक और अतिथि-देव पधारे और क्रोपाटकिन को फिर भीतर जाकर कहना पड़ा—'कुछ पानी और भी।' इस प्रकार की क्रिया कई बार करनी पड़ती और सोफी को ढाई आदमियों के बजाय छः-सात आदमियों को भोजन कराना पड़ता। मेहमान-दारी क्रोपाटकिन के अत्यन्त प्रिय गुणों में से थी और कोई बिल्कुल अजनबी आदमी भी उनके घर पर किसी संकोच का अनुभव नहीं करता था।"

संसार में अनेक राजनैतिक महापुरुष हुए हैं और होंगे, पर मस्तिष्क की विशालता, हृदय की उदारता, चरित्र की स्वच्छता और जीवन की उच्चता के खयाल से क्रोपाटकिन का दृष्टान्त प्रायः अनुपम ही सिद्ध होगा। वैसे प्रारम्भिक तथा यौवन के वर्षों के खयाल से क्रोपाटकिन के जीवन का सर्वोत्तम वृन्तात तो उनके आत्मचरित 'मेमोइर्स आफ ए रिवोल्यूशनिस्ट' से ही मिल सकता है, पर वह ग्रन्थ सन् १८९८ तक का ही है और उसके बाद क्रोपाटकिन तेईस वर्ष और भी जीवित रहे थे। इस कारण उनके एक विस्तृत जीवन-चरित की आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति जार्ज वुडकॉक और आइवन अवाकुमोविक नाम के दो ग्रन्थकारों ने कर दी।[1]

[1] 'प्रिन्स पीटर क्रोपाटकिन'—प्रकाशक बोर्डमैन।

क्रोपाटकिन का जन्म सन् १८४२ में हुआ और मृत्यु १९२१ में। उनके जीवन-चरित में तत्कालीन रूस का एक चलता-फिरता चित्र-सा दिखाई देता है। उनका आत्म-चरित इतनी खूबी के साथ लिखा गया है कि वह उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वोत्तम आत्मचरित कहा जाता है। क्रोपाटकिन का जीवन एकांगी न था, वह बहुअंगीन था। क्रांतिकारी अराजकवादी तो वह थे ही, पर साथ-ही-साथ संसार के भूगोलवेत्ताओं में भी वह शिरोमणि थे और समाज-विज्ञान के भी जाने-माने आचार्य। रूस तथा यूरोप के सत्तर वर्ष के इतिहास पर भी उनके जीवन-चरित से विशेष प्रकाश पड़ता है।

क्रोपाटकिन के इस जीवन-चरित को पढ़ते हुए हमें उनके और गांधीजी के जीवन तथा दृष्टिकोण में अद्भुत साम्य प्रतीत हुआ। साधनों की पवित्रता पर वह उतना ही ज़ोर देते थे, जितना कि महात्मा गांधी। मेरी गोल्डस्मिथ नामक एक यहूदी अराजकवादी ने लिखा है—"जो भी नवयुवक क्रोपाटकिन से मिलने जाता था, उसकी बात वह बड़ी प्रेमपूर्ण मुस्कराहट और सौम्य भावना से सुनते थे। पर एक बात थी कि यद्यपि प्रत्येक ईमानदार तथा उत्साही युवक के प्रति उनका व्यवहार उदारतापूर्ण रहता था, तथापि साधनों के चुनाव के विषय में वह काफी कठोरता से काम लेते थे। प्रचार के कुछ ढंगों को क्रोपाटकिन असह्य मानते थे। अनुचित साधनों का जिक्र करते हुए उनका स्वर कठोर होजाता था और उनकी निन्दा बिना किसी 'लगा-लेस के होती थी। 'चाहे जैसे बुरे-भले साधनों से अपने लक्ष्य की प्राप्ति' इस सिद्धांत से उन्हें घोर घृणा थी और चाहे संगठन या रुपये एकत्रित करने का प्रश्न हो या विरोधियों के प्रति व्यवहार का या दूसरी पार्टियों के साथ संबंध स्थापित करने का, अगर कोई साधनों की पवित्रता को नगण्य मानता, तो वह उसे नफरत की निगाह से देखते थे और उसे गर्हणीय मानते थे।" श्री जवाहरलालजी का कथन है कि 'साधनों की पवित्रता' पर ज़ोर देकर महात्माजी ने राजनीति को बड़े ऊंचे धरातल पर ला दिया। संसार की

राजनीति को यह उनका एक खासा दान था, और इस विषय में क्रोपाटकिन उनके अग्रणी ही थे।

शिक्षा, कृषि, शारीरिक श्रम का महत्व और विकेन्द्रीकरण के सिद्धांतों पर तो दोनों महापुरुषों के विचार बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। सन १८६६ में जब टाइनसाइड के कुछ कार्यकर्त्ता एक कृषि-संघ कायम करके खेती करना चाहते थे, क्रोपाटकिन ने उन्हें एक पत्र लिखकर प्रोत्साहित किया था और साथ ही मार्ग की बाधाओं के विषय में भी आगाह कर दिया था। उन्होंने बतलाया था कि छोटे समूह में अक्सर झगड़े हो जाते हैं, शहरी कार्यकर्त्ताओं के लिए भूमि पर काम करना मुश्किल हो जाता है, पूंजी की कमी का खतरा अलग रहता है और संन्यासीपन की भावना भी गलत रास्ते पर ले जाती है। इसके बाद उन्होंने लिखा था, "यदि कृषि का कार्य तुम्हें आकर्षक लगता है, तो उसीको ग्रहण करो। तुम्हें उसमें अपने पहले के आदमियों की अपेक्षा सफलता की आशा अधिक है। कम-से-कम तुम्हें सहानुभूति मिलेगी ही, और मेरी सहानुभूति तो बराबर तुम्हारे साथ रहेगी।" इसके पहले के एक पत्र में क्रोपाटकिन ने अपने मित्र रोबिन को लिखा था—"बौद्धिक श्रम करते-करते मैं तो तंग आ चुका हूं। अपनी लेखनी के द्वारा जीवित रहना मेरे लिए कठिन हो रहा है। मैं उसके बोझ से दबा जा रहा हूं। इसके बजाय अगर मैं साग-तरकारी अथवा अनाज पैदा करता, तो दूसरों को कुछ सिखा भी सकता था।"

क्रोपाटकिन के इस पत्र की तुलना कीजिये महात्माजी के उस पत्र से, जो उन्होंने पंडित तोतारामजी सनाढ्य को १९३२ में लिखा था। उस पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है—"भाई तोतारामजी,...मेरी आकांक्षा यह है कि हम इतने फल और इतनी भाजी पैदा करें, जो हमारे लिए पर्याप्त हों। यदि गो-माता के लिए घास आदि पैदा करें, और आश्रम के लिए अनाज, तो खेती के पूर्ण आदर्श को हम पहुंचे। लेकिन मैं जानता हूं कि यह सब मूर्ख की बकवास है। खेती का काम सबसे कम किया और बातें सबसे ज्यादा मैंने इस बारे में की हैं। क्या करूं, खेती उन्हीं

चीजों में से है, जो करने का खयाल मुझे आधी आयु बीतने पर आया !—बापू ।" दोनों पत्रों में कितना साम्य है ! क्रोपाटकिन ने कृषि के विषय मे भी अनुन्सधान किये थे । जब वह फ्रांसीसी जेल में थे, तो सरकार ने उन्हें अपने कृषि-संबंधी प्रयोगों के लिए एक खेत दे दिया था और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने जो प्रयोग वहां किये, उन्होने कृषि-जगत् में एक क्रांति ही कर दी ! इन्हीं प्रयोगों के आधार पर उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'फील्ड, फैक्टरीज एण्ड वर्कशॉप' लिखी। नई तालीम के अनेक मूल सिद्धांत इस पुस्तक में विद्यमान हैं।

क्रोपाटकिन के जीवन-चरित के लेखकों ने लिखा है—"क्रोपाटकिन तथा उनके साथियों के बीच में आतंकवाद पर बराबर मतभेद रहा।" स्वयं क्रोपाटकिन ने भी एक जगह लिखा था—"साधारणतः यह कहना ठीक होगा कि आतंक की प्रतिष्ठा एक सिद्धान्त के रूप में कर देना मूर्खता-पूर्ण है।" इस सम्बन्ध में सन् १८६२ की एक महत्त्वपूर्ण घटना यहां दी जाती है। कोयले की खानों में हड़ताल हो गई थी। विलायत के मज़दूर-नेता एक होटल में इकट्ठे हुए थे और उन्होंने क्रोपाटकिन को भी निमंत्रित किया था। जबतक खान के मज़दूरों के कष्टों के निवारण की चर्चा चलती रही, सभी लोग एक-दूसरे से सहमत रहे; पर ज्योंही उपायों का विषय छिड़ा कि क्रोपाटकिन की 'शान्तिप्रियता' ने मानो मेज़ पर विस्फोट का काम किया ! मज़दूर-दल के सभी नेता सरकार के खिलाफ कठोर उपाय काम में लाने के पक्षपाती निकले। इसके विपरीत क्रोपाटकिन का कहना था कि हमें सत्याग्रह, बीच-बचाव तथा प्रचार से काम लेना चाहिए। इस वाद-विवाद का नतीजा यह हुआ कि मीटिंग टूट गई। टामस मैन नामक मज़दूर-नेता बार-बार चिल्ला रहे थे—"हमें विध्वंस की नीति का आश्रय लेना चाहिए, हमें चीज़ों को तोड़ डालना चाहिए, हमें ज़ालिमों को खत्म कर देना चाहिए।" लेकिन ज्योंही कुछ शान्ति होती, प्रिंस क्रोपाटकिन अपने वैदेशिक लहज़े में बड़ी विनम्रता से नर तर यही कहते सुनाई देते—"नहीं, विनाश नहीं, हमें निर्माण करना

चाहिए। हमें मनुष्यों के हृदय का निर्माण करना चाहिए। हमें ईश्वर के राज्य का निर्माण करना चाहिए।" ये शब्द तो बिल्कुल महात्मा गांधी जैसे ही प्रतीत होते हैं! और उन दिनों—१८९३ में—महात्माजी ने दक्षिण अफ्रीका में वकालत के लिए प्रवेश किया ही था।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्रोपाटकिन के जीवन-चरित के लेखक भी अन्त में इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि संसार का कल्याण 'संगठित हिंसा' द्वारा नहीं होगा, बल्कि शान्तिपूर्वक एक-दूसरे के प्रश्नों को समझने के द्वारा; शासन अथवा 'राज्य' द्वारा नहीं होगा, वरन् पारस्परिक सहयोग के आधार पर स्थित सहस्रों समितियों द्वारा; केन्द्रीकरण द्वारा नहीं, विकेन्द्रीकरण द्वारा! देश का—देश का ही नहीं, संसार का—यह दुर्भाग्य है कि हमारे यहां तुलनात्मक अध्य न करके दुनिया के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विचारकों के विचारों का सारांश निकालनेवाले विद्वान बहुत कम है। क्रोपाटकिन तथा गांधीजी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आकर्षक है, और खास तौर से आज, जबकि दुनिया चौराहे पर खड़ी हुई है और उसके सामने ठीक मार्ग ग्रहण करने का प्रश्न उपस्थित है, यह विषय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। एक मार्ग है क्रोपाटकिन तथा गांधीजी का और दूसरा है मार्क्स तथा स्टालिन का।

महापुरुषों के जीवन-चरितों में अद्भुत स्फूर्ति प्रदान करने की सामर्थ्य होती है और इस दृष्टि से क्रोपाटकिन का जीवन-चरित खासा महत्व रखता है। क्या अजीब सिनेमा-जैसा दृश्य वह हमारी आंखों के सामने ला उपस्थित करता है! एक अत्यन्त प्राचीन और उच्चवंश में जन्म, जारशाही के अत्याचारों का घनघोर अन्धकार, गुलामी की प्रथा का दौर-दौरा, आठ वर्ष की उम्र में ज़ार के पार्षद बालक, बारह वर्ष की अवस्था में फ्रेंच भाषा का अध्ययन और रूसी राजनैतिक साहित्य में रुचि, अपने बड़े भाई एलेक्ज़ेण्डर के साथ हार्दिक प्रेम, फौजी स्कूल में शिक्षा, साइबेरिया की यात्रा—गवर्नर-जनरल के ए० डी० सी० बनकर वहां से

त्यागपत्र, फिर सेण्ट पीटर्सबर्ग के विश्वविद्यालय में पांच वर्ष तक गणित तथा भूगोल का अध्ययन, क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होना, यूरोप की यात्रा और वहां अराजकवादी संस्थाओं का संपर्क, रूस लौटकर क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार इत्यादि। इसके बाद का दृश्य ए० जी० गार्डिनर के रेखाचित्र में देख लीजिये—

"नाटक का पर्दा बदलता है। ज़ार निकोलस की अंधेरी रात दूर हो गई; लेकिन उसके बाद दासत्व-प्रथा बन्द होने के कारण थोड़ी देर के लिए जो उषःकाल आया था, उसे प्रतिक्रिया के अन्धकार ने ढंक लिया और रूस फिर पुलिस के अत्याचारों से कुचला जाने लगा। सैकड़ों निर-पराध आदमी फांसी पर लटका दिये गए और हज़ारों ही जेल में ठेल दिये गए, अथवा साइबेरिया में अपनी कब्र खोदने के लिए निर्वासित कर दिये गए। सारे रूस पर भय और आतंक का साम्राज्य था, लेकिन भीतर-ही-भीतर रूस जाग्रत हो रहा था। रूसी जार एलेक्ज़ेण्डर द्वितीय ने अपने शासन का सूत्र पुलिस के ज़ालिम अफसरों को—ट्रेंपोफ और शुवालोफ को—सौंप दिया था। वे चाहे जिसे फांसी पर लटका देते थे और चाहे जिसे निर्वासित कर देते थे, लेकिन फिर भी वे क्रान्तिकारी गुप्त समितियों की कार्रवाइयों को रोकने में सफल नहीं हुए। ये समि-तियां दनादन स्वाधीनता तथा क्रान्ति का साहित्य जन-साधारण में बांट रही थीं। इस घोर अशान्तिमय वायुमण्डल में भेड़ की खाल ओढ़े एक अद्भुत किसान, अदृश्य भूत की तरह, इधर-से-उधर घूम रहा है। उसका नाम बोरोडिन है। पुलिस के अफसर हाथ मल-मलकर कहते हैं—'बस, अगर हम लोग बोरोडिन को किसी तरह पकड़ पावें, तो क्रान्ति की इस सर्पिणी का मुंह ही कुचल जाय—हां, बोरोडिन को और उसके साथी-संगियों को।' लेकिन बोरोडिन को पकड़ना आसान काम नहीं। जिन जुलाहों और मज़दूरों के बीच में वह काम करता है, वे उसके साथ विश्वासघात करने के लिए तैयार नहीं। वे सैकड़ों की सख्या में पकड़े जाते हैं, कुछको जेल का दण्ड मिलता है और कुछको फांसी का; पर

बोरोडिन का असली नाम और पता बतलाने के लिए वे तैयार नहीं।

"सन् १८७४ की वसन्त-ऋतु—संध्या का समय है। सेण्ट पीटर्सबर्ग के सभी वैज्ञानिक और विज्ञान-प्रेमी ज्योग्राफिकल सोसाइटी के भवन में महान वैज्ञानिक प्रिंस क्रोपाटकिन का व्याख्यान सुनने के लिए एकत्रित हुए हैं। फिनलैण्ड की यात्रा के परिणामों के विषय में उनका भाषण होता है। रूस के 'डाइल्यूवियल' (जलप्रलय-काल) के विषय में वैज्ञानिकों ने जो सिद्धान्त अबतक कायम कर रखे थे, वे एक के बाद दूसरे खण्डित होते जाते हैं और अकाट्य तर्क के आधार पर एक नवीन सिद्धान्त की स्थापना होती है। सारे वैज्ञानिक जगत् में क्रोपाटकिन की धाक जम जाती है। इस महापुरुष के मस्तिष्क के बिस्तार के विषय में क्या कहा जाय! उसका शासन भिन्न-भिन्न ज्ञानों तथा विज्ञानों के समूचे साम्राज्य पर है। वह महान गणितज्ञ है और भूगर्भ-विद्या का विशेषज्ञ है। वह कलाकार है और ग्रन्थकार (बारह वर्ष की उम्र में उसने उपन्यास लिखे थे), वह संगीतज्ञ है और दार्शनिक। बीस भाषाओं का वह ज्ञाता है और सात भाषाओं में वह आसानी के साथ बातचीत कर सकता है। तीस वर्ष की उम्र में ही रूस के चोटी के विद्वानों में—उस महान देश के कीर्त्ति-स्तम्भों में—प्रिंस क्रोपाटकिन की गणना होने लगती है। प्रिंस क्रोपाटकिन को बाल्यावस्था में फौजी काम सीखना पड़ा था, और पांच वर्ष बाद जब उनके सामने स्थान के चुनाव का सवाल आया, तो उन्होंने साइबेरिया को चुना था। वहां सुधार की जो स्कीम उन्होंने पेश की और आमूर की यात्रा करके एशिया के भूगोल की भद्दी भलों का जिस तरह संशोधन किया, उससे उनकी कीर्त्ति पहले से ही फैल चुकी थी; पर आज तो भौगोलिक जगत में विजय का सेहरा उन्हींके सिर बांध दिया गया। प्रिंस क्रोपाटकिन ज्योग्राफिकल सोसाइटी के 'फिजीकल ज्योग्राफी' विभाग के सभापति मनोनीत किये गए। भाषण के बाद ज्योंही गाड़ी में बैठकर वह बाहर निकले और एक दूसरी गाड़ी उनके पास से गुज़री, एक जुलाहे ने उस गाड़ी में से उभककर कहा—'मिस्टर बोरोडिन, सलाम।'

दोनों गाड़ियां रोक दी गईं। जुलाहे के पीछे से खुफिया-पुलिस का एक आदमी उस गाड़ी में से कूद पड़ा और बोला, 'मिस्टर बोरोडिन उर्फ प्रिंस क्रोपाटकिन, मैं तुम्हें गिरफ्तार करता हूं।' उस जासूस के इशारे पर पुलिस के आदमी कूद पड़े। उनका विरोध करना व्यर्थ होता, क्रोपाटकिन पकड़ लिये गए। विश्वासघाती जुलाहा दूसरी गाड़ी में उनके पीछे-पीछे चला।"

इसके बाद वे किस प्रकार किले की जेल में डाल दिये गए, वहां उन्हें क्या-क्या यातनाएं सहनी पड़ीं और वहां से वह किस तरह भाग निकले, इसका वृत्तान्त बड़ा ही रोमांचकारी है।[१]

सन् १८७६ से लेकर १९१७ तक (४१ वर्ष) क्रोपाटकिन को स्वदेश से बाहर व्यतीत करने पड़े। कठोर-से-कठोर साधना का यह लम्बा युग केवल उनके जीवन का ही नहीं, संसार के राजनैतिक इतिहास का भी एक महत्वपूर्ण अध्याय है। इस बीच वह स्विट्ज़रलैंड तथा फ्रांस में भी रहे और दो-ढाई वर्ष के लिए उन्हें फ्रांसीसी जेल की भी हवा खानी पड़ी। उनके सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थ इसी युग में लिखे गए। इनमें कई तो ऐसे हैं, जिनका विश्वव्यापी महत्व है, जैसे 'पारस्परिक सहयोग' और 'रोटी का सवाल' आदि। उनके क्रान्तिकारी लेखों के भी कई संग्रह भिन्न-भिन्न भाषाओं में छपे थे और 'नवयुवकों से दो बातें' तथा अन्य लेख हिन्दी में भी छप चुके हैं।

क्रोपाटकिन ने ही लन्दन में सन् १८८६ में 'फ्रीडम' नामक पत्र की स्थापना की, जो अबतक चल रहा है। इसी वर्ष क्रोपाटकिन ने जीवन में एक अत्यन्त दुःखमय घटना घटी, यानी उनके बड़े भाई ने साइबेरिया से लौटते हुए रास्ते में आत्मघात कर लिया। उन्हें भी देश-निकाले का दण्ड दिया गया था, जिसके अन्तर्गत बारह वर्ष उन्हें साइबेरिया में बिताने पड़े थे। जब उनके छुटकारे के दिन निकट आये, तो उन्होंने

---

[१] देखिये 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित 'क्रान्ति की भावना'

अपने बाल-बच्चों को पहले ही रूस रवाना कर दिया और फिर एक दिन निराशा से अभिभूत होकर अपने-आपको गोली मार ली ! वह महान् गणितज्ञ थे—खगोलशास्त्र के अद्‌भुत ज्ञाता थे, और ज्योतिषशास्त्र के बड़े-से-बड़े विद्वानों ने उनकी कल्पनाशील प्रतिभा की बहुत प्रशसा की थी। महज़ आशंका के आधार पर उन्हें ज़ारशाही ने देश-निकाले का दण्ड दिया था, जबकि क्रांतिकारी दलो से उनका कोई भी सम्बन्ध न था। यदि उन्हें स्वाधीनतापूर्वक अपने खगोल-सम्बन्धी अनुसंधान करने की सुविधा होती, तो उस शास्त्र की उन्नति में वह कितने सहायक हुए होते ! पर निरंकुश शासकों में भला इतनी कल्पना-शक्ति कहां ? क्रोपाटकिन के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी। इन दोनों भाइयों का प्रेमपूर्ण व्यवहार आदर्श था। पर क्रोपाटकिन ने अपनी इस हृदय-बेधक दुर्घटना का ज़िक्र अत्यंत संयम के साथ केवल एक वाक्य म किया है—"हमारी कुटिया पर कई महीने तक दुःख की घटा छाई रही।" प्रेम-कातर क्रोपाटकिन ने अपनी भाभी तथा भतीजे-भतीजियों की यथा-शक्ति सेवा की।

क्रोपाटकिन की समस्त शिक्षाओं का आधार उनकी मनुष्यता थी। वस्तुतः अराजकवाद इस विषय मे मार्क्सवाद से सर्वथा भिन्न है। मार्क्स-वादियों की दृष्टि में व्यक्ति का कोई महत्व नहीं। मार्क्सवादी उसके साथ शतरंज के मुहरे की भांति व्यवहार करते है और सिद्धांत-सम्बन्धी मतभेद होने पर उसके शरीर तथा आत्मा को अलग-अलग कर देने में भी उन्हें संकोच नही होता ! पर अराजकतावादी के लिए मनुष्य वस्तुतः मनुष्य है, जिसके लिए मानो उसका हृदय उमडा पड़ता है। साम्यवादी को अपनी 'प्रणाली' की चिंता है, जबकि अराजकतावादी को 'मनुष्य' को। जब भी कभी अन्याय तथा अत्याचार का प्रश्न आता, क्रोपाटकिन बिना किसी भेदभाव के उसका विरोध करते—चाहे वह अन्याय उनके विरोधी पंथवाले पर ही क्यों न किया गया हो ! उनके शब्द सुन लीजिये —"हम व्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता को मानते है। हम उसके लिए

जीवन की प्रचुरता तथा उसकी समस्त प्रतिभाओं का स्वतंत्र विकास चाहते हैं। हम उसके ऊपर लादना कुछ भी नहीं चाहते। इस प्रकार हम उस सिद्धांत पर पहुंचते हैं, जिस सिद्धांत को फरियर ने धार्मिक नीति-ज्ञान के विरोध में रखते हुए कहा था—"मनुष्य को बिल्कुल स्वतंत्र छोड़ दो। उसे अंगहीन मत बनाओ, क्योंकि धर्म उसको अपग—जरूरत से ज्यादा अपंग बना चुका है। उसके मनोविकारों से भी मत डरो। स्वतंत्र समाज में ये खतरनाक नहीं होते।"

प्रिंस क्रोपाटकिन के ग्रन्थों को पढ़ जाइये, कहीं भी कोई क्षुद्र भावना उनमें दिखाई न देगी। शाब्दिक जंजाल का उनमें नामोनिशान तक नहीं। उसमें नैतिकता की शीतल-मन्द समीर सदा ही बहती है।

क्रोपाटकिन के इकतालीस वर्षीय देश-निकाले के कितने ही किस्से उनके जीवन-चरित में तथा उनके विषय में लिखे संस्मरणों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिनसे उनकी सन्त-प्रकृति पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है। एक बार फ्रैंक हैरिस ने उनसे कहा, "आपने देखा, उन अराजकवादियों ने यौवनावस्था में तो खूब काम किया, पर अब वे अर्थ-लोलुपता के शिकार हो गये हैं!" इसपर क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया, "उन लोगों ने जोशे-जवानी के दिन हमारे अर्पित कर दिये और अपना सर्वोत्तम हमें भेंट कर दिया। अब इससे अधिक की मांग उनसे हम कर ही क्या सकते हैं?" यह उदारता ही क्रोपाटकिन के सम्पूर्ण जीवन की कुंजी थी।

विलायत में रहते हुए क्रोपाटकिन की मैत्री वहां के सर्वश्रेष्ठ विचारकों तथा कार्यकर्त्ताओं से हो गई थी। उनमें से कितने ही उनके प्रशंसक थे। हिंडमैन, बरनार्ड शा, लैन्सबरी, एडवर्ड कार्पेण्टर, नैविनसन और ब्रेल्सफोर्ड प्रभृति से उनके सम्बन्ध बहुत निकट के थे, और जब क्रोपाटकिन ७० वर्ष के हुए तो उनकी संवर्द्धना के लिए आयोजित एक मीटिंग में बरनार्ड शा ने कहा था, "मुझे तो अब ऐसा प्रतीत होता है कि इतने वर्ष तक हम लोग गलत रास्ते पर चलते रहे हैं, और क्रोपाटकिन का रास्ता ही ठीक था।" तपस्वियों तथा विचारकों की

विचारधारा बहुत धीरे-धीरे काम करती है। क्रोपाटकिन ने अपनी वाणी तथा लेखनी द्वारा जो महान् कार्य किया, उसने केवल इंग्लैण्ड ही नहीं, फ्रांस, इटली, स्विट्ज़रलैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों के विचारकों को भी प्रभावित किया, और जो विचार उन दिनों नवीन प्रतीत होते थे, वे आज सार्वजनिक बन गये हैं।

सन् १९१७ की रूसी क्रांति के बाद क्रोपाटकिन ने स्वदेश को लौटना उचित समझा। अब वह पचहत्तर वर्ष के हो चुके थे, फिर भी उनके मन में युवकों-जैसा उत्साह था। पेट्रोग्रेड में साठ हज़ार आदमियों ने उनका स्वागत किया और रूसी सरकार के प्रधान कैरेन्स्की भी उनके स्वागतार्थ उपस्थित थे। चूंकि क्रोपाटकिन का विश्वास किसी भी सरकार में नहीं था, इसलिए उन्होंने कोई सरकारी पद ग्रहण नहीं किया। वैसे कैरेन्स्की के साथ उनके सम्बन्ध अच्छे थे, पर लेनिन के हाथ में शक्ति पहुंचने पर क्रोपाटकिन सर्वथा उपेक्षा के ही पात्र बन गये।

क्रोपाटकिन के अन्तिम दिनों की एक झांकी एमा गोल्डमैन के आत्मचरित 'लिविंग माइ लाइफ' में मिलती है। उन्होंने लिखा है—"रूस पहुंचने पर मुझे कम्यूनिस्ट लोगों ने बार-बार विश्वास दिलाया था कि क्रोपाटकिन तो बड़े आराम की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं और न उन्हें भोजन-वस्त्र की कमी है और न किसी अन्य वस्तु की। पर जब मैं क्रोपाटकिन के घर पहुंची, तो मामला इसके विपरीत ही पाया! क्रोपाटकिन, उनकी पत्नी सोफी तथा लड़की एलेक्ज़ेण्ड्रा तीनों एक कमरे में रहते थे और वह कमरा भी काफी गरम नहीं था तथा पास के कमरे तो इतने ठण्डे थे कि उनका तापमान शून्य से भी नीचे था! उन्हें जो भोजन मिलता था, वह बस जीवित रहने-भर के लिए पर्याप्त था। पर जिस सहयोग-समिति से उन्हें राशन मिलता था, वह टूट चुकी थी और उसके मेम्बर जेल भेज दिये गए थे! मैंने सोफी से पूछा—'गुज़र-बसर कैसे होती है?' उन्होंने उत्तर दिया—'हमारे पास एक गाय है और बगीचों में भी कुछ पैदा हो जाता है। साथी लोग भी बाहर से कुछ भेज

देते हैं। अगर पीटर (क्रोपाटकिन) बीमार न होते और उन्हें अधिक पौष्टिक भोजन की ज़रूरत न होती, तो हम लोगों की गुज़र-बसर हो जाती।' "

जार्ज लैन्सबरी इन्हीं दिनों रूस गए हुए थे। उन्होंने एमा गोल्डमैन से कहा था, "मुझे तो यह बात असम्भव दीखती है कि सोवियत सरकार के उच्च पदाधिकारी क्रोपाटकिन जैसे महान् वैज्ञानिक को इस प्रकार भूखों मरने देंगे! हम लोग इंग्लैण्ड में तो इस प्रकार के अनाचार को असह्य समझेंगे।"

क्रोपाटकिन उन दिनों अपनी अन्तिम पुस्तक 'नीतिशास्त्र' लिख रहे थे। किताबों के खरीदने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे। क्लार्क या टाइपिस्ट रखने की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसलिए अपने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि उन्हें खुद ही तैयार करनी पड़ती थी। भोजन भी उन्हें पुष्टिकर नहीं मिल पाता था, जिससे उनकी कमज़ोरी बढ़ती जाती थी और एक धुंधले दीपक की रोशनी में उन्हें अपने ग्रंथ की रचना करनी पड़ती थी।

जब क्रोपाटकिन मरणासन्न हुए तो अवश्य लेनिन ने मास्को से सर्वश्रेष्ठ डाक्टर और भोजन इत्यादि की सामग्री भेजी थी और यह आदेश भी दिया था कि क्रोपाटकिन के स्वास्थ्य के समाचार उनके पास बराबर भेजे जाय। जीवन के अन्तिम दिनों मे जिसे दमघोंटू वातावरण में रहने के लिए मजबूर किया गया, उसकी मृत्यु के समय इतनी चिंता का अर्थ ही क्या हो सकता था! ८ फरवरी, १९२१ को क्रोपाटकिन का देहांत हो गया। लेनिन की सरकार ने सरकारी तौर पर उनकी अन्त्येष्टि करने का विचार प्रकट किया, जिसे उनकी पत्नी तथा साथी-संगियों ने तुरंत ही अस्वीकार कर दिया। अराजकवादियों के मज़दूर-संघ के भवन से उनके शव का जलूस निकला, जिसमें बीस हज़ार मजदूर थे! सर्दी इतनी ज़ोरों की थी कि बाजे तक बर्फ के कारण जम गये! लोग काले झंडे लिये हुए थे और चिल्ला रहे थे—'क्रोपाटकिन के संगी-साथियों को,

अराजकवादी बंधुओं को जेल से छोड़ दो !'

सोवियत सरकार ने द्मिट्रोवका छोटा-सा घर क्रोपाटकिन की विधवा पत्नी को रहने के लिए और उनका मास्कोवाला मकान क्रोपाटकिन के मित्रों तथा भक्तों को दे दिया, जहां उनके कागज़-पत्र, चिट्ठियां तथा अन्य वस्तुएं सुरक्षित रहीं। सोफी १९३८ तक जीवित रहीं और क्रोपाटकिन के नाम पर स्थापित म्यूज़ियम की रक्षा करती रहीं। इसके बाद वह संग्रहालय भी छिन्न-भिन्न हो गया। पर स्वाधीनता का यह अद्वितीय पुजारी युग-युगांतर तक अमर रहेगा। उसका व्यक्तित्व हिमालय के सदृश महान् और आदर्शवादिता गौरीशंकर-शिखर की तरह उच्च है।

× × ×

मैट्रो रेल के एक स्टेशन का नाम क्रोपाटकिन के नाम पर रक्खा गया है और शायद एक नगर का नाम भी। अपनी पिछली रूस-यात्रा में उनकी समाधि पर फूल चढ़ाने और उनकी भतीजी से मिलने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था। उनके जन्म-स्थान के दर्शन भी हमने किये थे और उनके भाई के पौत्र से भी मिले थे।

: ४ :

म्यूरियल लैस्टर

सन् १९१४

चार बहनों की पीठ पर एक ही भाई हुआ था। नाम था किंग्सले। वह बीमार पड़ा हुआ था और उसके बचने की कोई उम्मीद अब नहीं थी। एक ऑपरेशन पहले हो चुका था और दूसरा छः हफ्ते बाद हुआ था। एक बहन उसका हाथ अपने हाथ में लिये बैठी थी। थोड़ी देर वे दोनों प्रेमपूर्वक बातचीत करते रहे। इतने में भाई का हाथ कुछ ठंडा-सा होने लगा। बहन को कुछ भी पता न था कि उसके प्यारे भाई का सदैव के लिए बिछोह होनेवाला है! उसके सामने कोई मृत्यु हुई ही न थी। आश्चर्यभरी मुद्रा में भाई ने कहा—"म्यूरियल! कुछ अंधेरा-सा हो रहा है।" तत्पश्चात् उसकी सांस कम होनी शुरू हुई और थोड़ी देर में २६ वर्ष का वह युवक प्राण-विहीन पड़ा हुआ था!

मरने के पूर्व किंग्सले ने एक कागज़ के टुकड़े पर लिखा था—"अमुक-अमुक चीजें अमुक-अमुक मित्रों को देना और शेष सब रुपया बहन म्यूरियल और बहन डोरिस को दे देना। इस रुपये से जो आमदनी हो, उसे वे बाउ नामक मुहल्ले में अथवा अन्यत्र, जहां कहीं वे काम करें, खर्च कर सकती हैं।"

विलायत की सुप्रसिद्ध समाज-सेवी संस्था 'किंग्सले हॉल' तथा विश्व-विख्यात बहनों—म्यूरियल और डोरिस—की साधना का कोई भी विवरण उनके एकमात्र सहोदर भाई किंग्सले का नामोल्लेख किये बिना

अधूरा ही रहेगा।

महात्मा गांधीजी ने यरवदा-जेल से सत्याग्रह-आश्रम की बहनों के लिए एक पत्र लिखा था। उसका एक अंश यहां उद्धृत किया जाता है।

"अब थोड़ा विलायत के अनुभवों में से। जिस प्रेम का अनुभव मैंने हिन्दुस्तानी बहनों के साथ किया है, कहा जा सकता है कि लगभग वैसे ही प्रेम का अनुभव मैं विलायत में भी कर आया हूं।...विलायती बहनों में संगठन-शक्ति है। वे पुरुषों की तरह संगठित होकर अच्छी तरह काम कर सकती हैं। वे अपने-आपको अबला नहीं समझतीं। कुछ बहनों का त्याग अवर्णनीय है। म्यूरियल लैस्टर, जो हमारे आश्रम में रह चुकी हैं, धनवान माता-पिता की लड़की हैं। मीराबहन की तरह उसने भी अपने हिस्से का तमाम धन अपने द्वारा स्थापित आश्रम को दे दिया है। उसने और उसकी बहन डोरिस ने अपना सर्वस्व सेवा के लिए अर्पण कर दिया है। डोरिस बालकों की पाठशाला चलाती है। उसके मातहत लगभग दस शिक्षिकाएं हैं, जो अल्प वेतन लेकर काम करती हैं। म्यूरियल उस आश्रम का संचालन करती है, जहां मैं ठहरा था। दोनों बहनों को सिवा सेवा के किसी दूसरी बात का ख्याल ही नहीं रहता। दोनों अखण्ड कुमारियां हैं। अब तो वे ऐसी उम्र को पहुंची हैं कि साधारणतया विवाह का विचार भी नहीं आ सकता। दोनों बहनों की पवित्रता उनके चेहरों पर लिखी हुई देख सकते हैं। म्यूरियल के आश्रम में ऊंच-नीच या काले-गोरे का तो भेद हो ही नहीं सकता। मुझे ठहराने में तो घड़ी-भर वह बड़प्पन का भी अनुभव करे, लेकिन तिलकम को रक्खा सो कैसे? तिलकम से पूछना कि उसे आश्रम में किस प्रकार रक्खा गया था। तिलकम तो बिल्कुल गरीब की तरह वहां गया था। उसके लिए खर्च देना मैंने कबूल किया था। लेकिन तिलकम ने आश्रम में दूसरों की बराबरी से काम किया, इसलिए म्यूरियल ने मुझे उसके खर्च के लिए एक कौड़ी भी न देने दी। वह अपने यहां हबशियों को भी इतने ही प्रेम और आदर से रखती है और वैसे ही भाव से उनसे मिलती है।"

बात सन् १९२६ की है। एक मित्र ने आकर कहा, "साबरमती-से एक मेम आई है। उसका भाषण भी हुआ था। तुम व्याख्यान सुनने तो गये ही नहीं, भलेमानस उससे मिल तो आओ!" थोड़ी देर बाद उक्त महिला से मिलने के लिए मैं गया और उनके संक्षिप्त वार्तालाप से ही पता लग गया कि वह कोई मामूली स्त्री नहीं, बल्कि एक असाधारण कार्यकर्त्री हैं। उन दिनों बन्धुवर श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल के चुनाव-सम्बन्धी दौरे हो रहे थे, और इस सिलसिले में ग्रामों के देखने का अच्छा अवसर समझकर मिस म्यूरियल लैस्टर ने उनके साथ ही घूमने का विचार किया था। पालीवालजी ने दुभाषिये का काम मेरे सुपुर्द कर दिया था और इस प्रकार बारह घंटे लगातार उनके साथ रहने का अवसर मुझे मिला था। कुछ देर के लिए उनके आतिथ्य का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ था। जब मैंने अपनी सजातीय महिलाओं से उन्हें मिलाया तो उन्होंने मिस म्यूरियल लैस्टर से अनेक प्रश्न किये। मिस लैस्टर ने उनके संतोषजनक उत्तर भी दिये। अंत में एक महिला ने पूछा, "तुम्हारा विवाह हुआ है कि नहीं?" इसका उत्तर उन्होंने दिया, "नहीं! मैं एक कामकर हूं।" इसपर सभी महिलाएं आश्चर्य में रह गईं और एक ने कहा भी, "ऐं, चौबीस-पच्चीस वर्ष की हो गई और क्वांरी ही है!" उनकी चकित मुद्रा को देखकर मिस लैस्टर उनका भाव समझ गईं और मुझे अनुवाद करने की ज़रूरत नहीं पड़ी।

'विशाल भारत' का सम्पादन-कार्य हाथ में लेने के बाद मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वह अपनी संस्था 'किंग्सले-हॉल' का वृत्तान्त मुझे लिख भेजें। उन्होंने उस समय जो पत्र लिखा था, उसका अनुवाद यहां दिया जाता है—

"सन् १९२७ में मेरे पिताजी की मृत्यु हुई। वह ४०० पौण्ड वार्षिक आय की सम्पत्ति छोड़ गये थे, लेकिन बहुत वर्ष पहले से—जब मैंने महात्माजी का नाम भी नहीं सुना था—मैं चोरी न करने की प्रतिज्ञा में विश्वास करती रही हूं। अपनी आवश्यकता से अधिक धन लेना, जबकि

औरों को उनकी आवश्यकता से भी कम मिलता हो, एक प्रकार की चोरी करना ही है। इसलिए मैंने 'बाउ' मुहल्ले के मजदूर स्त्री-पुरुषों को इकट्ठा करके कहा, 'इस धन पर मैं अपना अधिकार नहीं मानती। मुझे मरते दम तक एक पौंड प्रति दिन से भी अधिक क्यों मिले, जबकि मेरी गली में ऐसे लोग निवास करते हैं, जिन्हें केवल दो पौंड पर हफ्ते-भर अपने पूरे कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है?' उन गरीबों ने उत्तर दिया, 'किन्तु वह सम्पत्ति तो तुम्हारी है, तुम्हीं उसे रक्खो!' मैंने कहा—'मैं जानती हूं कि इस देश के कानून के अनुसार यह मेरी है, परन्तु ईश्वरीय कानून के अनुसार—जो कहता है कि यदि तुम शक्तिशाली हो तो जो कमजोर हैं, उनके दौर्बल्य का बोझ उठाओ, न कि मौज उड़ाओ—यह मेरी नहीं है। उत्तराधिकार के वर्तमान नियम बड़े भद्दे और जीर्ण हैं। प्रभु ईसा के नियम उनसे उत्तम हैं और मैं उन्हींका पालन करती हूं।"

इसके बाद मिस म्यूरियल लैस्टर ने तीन सभाएं कीं। एक में आस-पास के श्रमजीवी-संघों से एक-एक प्रतिनिधि बुलाया गया था, दूसरी में गिरजाघरों के प्रतिनिधि थे और तीसरी में ज़िले भर की महिलाएं एकत्र की गई थीं। प्रत्येक सभा ने तीन-तीन प्रतिनिधि निर्वाचित किये और इस प्रकार एक कमेटी बना दी गई और उसीको यह सम्पत्ति सौंप दी गई। उद्देश्य था आस-पास के लोगों के प्रतिदिन के जीवन को अधिक उपयोगी, अधिक गम्भीर तथा अधिक समृद्धिशाली बनाना।

किंग्सले भवन ने जो महान् कार्य किया है, उसका पूरा-पूरा विवरण देने के लिए यहां स्थान नहीं। क्या स्त्रियों और क्या बच्चों सभीके जीवन में इस संस्था ने अपनी सेवा-भावना से काफी परिवर्तन ला दिया है। पहले 'बाउ' में बच्चों की मृत्यु-संख्या का औसत बहुत ऊंचा था, पर अब वह बहुत नीचे गिर चुका है। संस्था के बाल-विभाग ने बालकों के जीवन को सरस बना दिया है और सस्ते दामों पर दिये जानेवाले सात्विक भोजन से वे हृष्टपुष्ट भी रहते हैं। लड़कियों को सीने-पिरोने का

काम सिखाया जाता है। स्त्रियों की क्लब अलग ही है और उसकी साप्ताहिक मीटिंग हुआ करती है। उस दिन गाना होता है, प्रार्थना होती है, ग्राम्य नाच होता है और फिर चायपान। संध्या को क्लब में बिलियार्ड, शतरंज, पिंगपौंग इत्यादि खेल होते रहते हैं। किसी दिन नगर के बाहर जाने का कार्यक्रम रक्खा जाता है तो किसी दिन फिल्म पर लेक्चर होते हैं। गान-विद्या का वर्ग भी चलता है। लम्बी-लम्बी यात्राओं की भी आयोजना की जाती है और घुमक्कड़-दलों का प्रबन्ध भी। हारी-बीमारी में स्त्रियों तथा बच्चों की सहायता की जाती है।

किंग्सले-भवन की उन्नति के मूल में अनेक साधारण स्त्री-पुरुषों का त्याग और बलिदान है और मिस म्यूरियल लैस्टर को यह बात सख़्त नापसन्द होगी, यदि उसका श्रेय मुख्यतया उन्हींको दिया जाय, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि इन दोनों बहनों—म्यूरियल और डोरिस के त्यागमय जीवन से आस-पास की जनता को बड़ी प्रेरणा मिली है।

मिस लैस्टर ने अपने जीवन में एक अद्भुत सामंजस्य उत्पन्न कर लिया है। वह जिस सहज स्वाभाविकता के साथ ग़रीब-से-ग़रीब मज़दूरनी से बात कर सकती हैं, उसी स्वाभाविकता से ऊंचे-से-ऊंचे पदाधिकारियों से। न उनमें उच्चत्व की भावना है, न क्षुद्रत्व की। रंग-भेद की सीमा को वह कभी का पार कर चुकी हैं और क्षुद्र देशभक्ति को वह घृणा की दृष्टि से देखती हैं। वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का पालन करने-वाली हैं। चार बार वह भारत की यात्रा कर चुकी हैं, अमरीका कई बार गई हैं, चीन-जापान भी हो आई हैं और पांच दिन के लिए रूस की भी यात्रा आपने की थी। आप दक्षिण अफ्रीका में जातीय विद्वेष के प्रश्न का अध्ययन कर रही थीं। कम खर्च में यात्रा करना उन्होंने सीख लिया है। एक बार जब वह कलकत्ता से ट्रावनकोर की यात्रा करनेवाली थीं, मुझे हावड़ा स्टेशन तक उनके साथ जाने का अवसर मिला था। हमारे यहां तीसरे दर्जे के यात्रियों को जो कष्ट होता है, उसका अनुमान किया जा

सकता है। जब म्यूरियल लैस्टर ने तीसरे दर्जे का टिकट लिया, तो मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने कहा, "इसमें तो आपको बहुत तकलीफ होगी!" उन्होंने उत्तर दिया, "तो क्या आप यह समझे हुए थे कि मैं सैकिंड क्लास में यात्रा करूंगी? इतना पैसा मेरे पास है ही कहां?" अपनी मूर्खता पर मुझे हँसी आगई। मैं इस बात को भूल ही गया था कि साधनहीन जन-समाज की सेवा करने का व्रत जिस बहन ने बीस वर्ष से ले रखा था, उसे अपने कष्टों की परवा ही क्या हो सकती है।

चाहे चीन में हों या जापान में, भारत में हों या अमरीका में, मिस लैस्टर अपने व्यक्तित्व को खोती नहीं। उनके लिए महात्मा गांधी से बातचीत करना उतना ही आसान रहा है, जितना चीन के जनरल फैंग से या जापान के प्रधान मंत्री से। एक बार उन्होंने महात्माजी को अच्छा-खासा जवाब दिया था।

महात्माजी से विदा लेने वह गई थीं। बोलीं, "महात्माजी, आप कृपा कर इंग्लैंड पधारें।"

महात्माजी ने मुस्कराते हुए कहा, "मुझे अपने देश में ऐसी कौन बड़ी भारी सफलता मिली है कि मैं आप लोगों को कुछ सिखाने के लिए इंग्लैंड की यात्रा करूं?"

मिस लैस्टर ने तुरन्त ही जवाब दिया, "मैं यह नहीं चाहती कि आप हमें कुछ सिखाने के लिए आवें। मैं तो यह चाहती हूं कि आप हमसे कुछ सीखने के लिए पधारें!"

महात्माजी खूब खिलखिलाकर हँसे और फिर बोले, "ठीक। तब तो मैं वायदा करता हूं कि मैं इंग्लैंड आऊंगा, लेकिन कुछ शर्तों पर। उनमें एक शर्त तो यह है कि विलायत भर में आप इस विषय पर लोकमत जाग्रत करें कि ब्रिटिश सरकार शराब तथा अफीम के विषय में भारत में किस अनाचारपूर्ण नीति से काम ले रही है।"

मिस लैस्टर इस बात के लिए राजी हो गईं और महात्माजी जब विलायत गये तो वह उन्हींके किंग्सले भवन में अतिथि हुए थे। उन दिनों

का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन मिस लैस्टर ने अपनी पुस्तक 'ऐण्टरटेनिंग गांधी' में किया है। उसके पूर्व वह एक पुस्तक और भी लिख चुकी थीं 'माई होस्ट दि हिन्दू'।

मिस लैस्टर की सर्वोत्तम पुस्तक है उनका आत्मचरित्र—"इट ऑकर्ड टू मी"।

मिस लैस्टर ने जो कुछ लिखा है, सर्वथा निष्पक्ष भाव से, और अपने साम्राज्यवादी देशवासियों की कठोर आलोचना करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं होता। वह अपने देश में जेल की हवा भी खा चुकी हैं और उसका कारण था चुंगी का एक मामला। वह अपनी चुंगी के सार्वजनिक हित पर ख़र्च की जानेवाली रक़म को घटाना नहीं चाहती थीं और इसी बात पर अपने अन्य साथियों के साथ उन्होंने लन्दन नगर की बड़ी चुंगी को कर देना अस्वीकार कर दिया था। बीस-बाईस व्यक्तियों को जेल जाना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि लन्दन की चुंगी को अपनी मदद की रकम बढ़ानी पड़ी। अपने उपनगर की चुंगी की जच्चा और बच्चों की उपसमिति की प्रधान आप ही थीं। बच्चों को ६५ हज़ार रुपये वार्षिक का दूध मुफ्त में दिया जाता था और इनकी चुंगी का प्रबन्ध इतना उत्तम था कि बच्चों की मृत्यु का औसत लंदन में सबसे कम रह गया था। इसी दूध की मिकदार कम होनेवाली थी। जब एक उच्च पदाधिकारी ने पूछा, "और सब चुंगियों ने तो यह मंज़ूर कर लिया है कि जच्चा और बच्चा-विभाग पर ख़र्च घटा दें तो फिर आपकी चुंगी क्यों नहीं मंज़ूर करती ?"

मिस लैस्टर ने तपाक से जवाब दिया, "बात यह है कि हमारी चुंगी के सदस्य उन्हीं तंग गलियों के रहनेवाले हैं, जिसमें कि ये बच्चे रहते हैं। हम उन बच्चों को नित्य प्रति देखते हैं। अगर दूध की मिकदार कम की गई तो इन बच्चों को दुर्बल होते हुए और उनके चेहरों को पीले पड़ते हुए देखने का दुर्भाग्य हमें प्राप्त होगा।"

तीन सप्ताह की जेल-यात्रा के बाद उन्हें अपने उद्देश्य में पूर्ण

सफलता मिल गई। पर इससे वह संतुष्ट होनेवाली नहीं थीं। तत्पश्चात् उन्होंने यह आंदोलन किया कि जो दूध बच्चों को दिया जाय, वह अव्वल नम्बर का हो, जिसकी जांच करा ली गई हो और जिसमें हानिकर कीटाणु न हों। यह आन्दोलन भी सफल हुआ।

अन्य जातियों की तरह अंग्रेज जाति में भी भले-बुरे सभी तरह के आदमी पाये जाते हैं। कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक जगह लिखा था—"किसी भी जाति के विषय में निर्णय करते हुए हमें उसके सर्वोत्तम व्यक्तियों को ही ध्यान में रखना चाहिए और मुझे यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं कि सर्वोत्तम कोटि के अंग्रेज मानव-जाति में आदर्श होते हैं।"

निस्संदेह मिस म्यूरियल लैस्टर सर्वोच्च कोटि की महिला हैं। वह अब केवल इंग्लैंड की ही नहीं, विश्व की नागरिक हैं।

: ५ :

कांग्रेस के जन्मदाता ह्यूम

["मिस्टर ह्यूम उन आदमिय मे थे, जो इस संसार में ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर वक्तन-ब-वक्तन मानव-समाज की उन्नति के लिए आया करते हैं और जिनकी वाणी जन-समाज को अपनी युगव्यापी निद्रा से जगाने में दुन्दुभि का काम करती है। राष्ट्रों के इतिहास में ऐसे महानुभावों को आदरणीय स्थान मिलने का जो अधिकार है, उससे कोई आदमी इन्कार नहीं कर सकता। मि० ह्यूम का भारत के प्रति अत्यन्त गम्भीर प्रेम था और जो कोई भी उनसे परिचित था, वह इस बात की साक्षी दे सकता है। न्याय और स्वाधीनता के प्रति भी मि० ह्यूम का वैसा ही उत्कट प्रेम था।"
—गोखले]

ह्यूम का जन्म सन् १८२९ में हुआ था। उनके पिता जोसेफ ह्यूम ने कम्पनी के दिनों में भारत में बारह वर्ष तक काम किया था और बहुत-सा रुपया कमाया था। उन दिनों कम्पनी के छोटे-छोटे अफसर भी खूब हाथ मारते थे और नवाबों की तरह रहते थे। बारह वर्षों में ही जोसेफ ह्यूम ने इतना धन इकट्ठा कर लिया कि उनके मन में विलायत वापस जाकर पार्लमेंट में प्रवेश करने की इच्छा उत्पन्न हुई। सन् १८१२ में वह पार्लमेंट में पहुंचे; पर थोड़े दिन के बाद पार्लमेंट भंग हो जाने के कारण उनकी मेम्बरी छूट गई। सन् १८१८ में वह फिर पार्लमेंट के मेम्बर हुए। वह उग्र विचारों के आदमी थे, और तीस वर्ष तक पार्लमेंट में उग्र दल के नेता बने रहे। सनु १८५३ में जब सर चार्ल्स वुड का

'इंडिया बिल' पेश हुआ, तब उन्होंने कई घंटों तक भारतीय जनता का पक्ष लेकर भाषण दिया था।

ऐसे पिता की संतान होने के कारण ह्यूम के हृदय में स्वाधीनता के बीज होना स्वाभाविक ही था। बालक ह्यूम की अभिलाषा जहाज़ में नौकरी करने की थी, और १३ वर्ष की उम्र में उन्होंने एक जहाज़ पर, जो भूमध्य सागर में चलता था, काम करना प्रारम्भ भी कर दिया था। इसके बाद उन्होंने डाक्टरी का अध्ययन किया, और फिर सन् १८४९ में बंगाल सिविल सर्विस में नौकरी प्रारम्भ की। भारतवर्ष में उन्होंने १८४९ से १८८२ तक यानी चौंतीस वर्ष नौकरी की। १८४९ से १८६७ तक कलक्टर रहे, १८६७ से १८७० तक युक्त प्रांत में, जो उन दिनों पश्चिमोत्तर प्रदेश कहलाता था, कस्टम-विभाग के कमिश्नर रहे, और १८७० से १८७९ तक गवर्नमेंट ऑफ इंडिया के सेक्रेटरी रहे। १८७९ में अधिकारियों से उनका झगड़ा हो गया, और १८८२ में उन्होंने अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपनी न्यायप्रियता तथा भारतीयों का पक्ष-समर्थन करने के कारण ही उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा था। उस समय 'स्टेट्समैन' ने लिखा था—"निस्संदेह मि० ह्यूम के साथ निर्दयतापूर्ण और लज्जाजनक व्यवहार किया गया है।"

ह्यूम के जीवन-चरित्र के लेखक, सर विलियम वेडरबर्न ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि शिमला के गुट ने मि० ह्यूम को अपनी नौकरी से निकलवाया था। जितने दिनों तक ह्यूमसाहब ने नौकरी की, उन्होंने १. शिक्षा-प्रचार, २. पुलिस में सुधार, ३. देशी भाषा के समाचार-पत्रों को प्रोत्साहन, ४. मादक-द्रव्य-निवारण, ५. अपराधी बच्चों के सुधार इत्यादि अनेक विषयों की ओर समुचित ध्यान दिया, और इन दिशाओं में सरकार का विरोध होने पर भी उन्होंने काफी सफलता प्राप्त की। बहुत-से लोगों को इस बात का पता न होगा कि मिस्टर ह्यूम की ही प्रेरणा तथा सहायता से हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक

राजा लक्ष्मणसिंह ने सन् १८६१ में 'प्रजा-हित' नामक पत्र निकाला था। इस पत्र के विषय में मि० ह्यूम ने राजासाहब को एक चिट्ठी में लिखा था—

"अपने पत्र 'प्रजा-हित' का काम ज़ोर-शोर के साथ आगे बढ़ाते रहिये। आपको पता नहीं है कि हम लोग जो काम कर रहे हैं, उसके विषय में यहां के लोगों के कितने उच्च विचार हैं। बढ़े चलिये, रुकिये नहीं। गौरव का मार्ग मैंने आपको सुझा दिया है और यद्यपि यह रास्ता कुछ लंबा है और थकानेवाला भी तब भी आगे बढ़े चलो।"

ग़दर के वक्त राजा लक्ष्मणसिंह ने, जो उन दिनों कुंवर लक्ष्मणसिंह कहलाते थे, मि० ह्यूम को बड़ी सहायता दी थी, और ह्यूमसाहब ने लक्ष्मणसिंहजी की अनेक बार प्रशंसा लिखी थी। सन् १८८६ में पब्लिक सर्विस कमीशन के सामने मि० ह्यूम ने जो लिखा हुआ विवरण उपस्थित किया था, उसमें भारतीयों की योग्यता की बहुत प्रशंसा की थी। अपने विवरण में उन्होंने कितनी ही बातें बड़े मार्के की लिखी थीं। गदर के दिनों में मुज़फ्फरनगर के कलक्टर किस प्रकार डर के मारे मेरठ के लिए भाग खड़े हुए थे और किस प्रकार उनके सरिश्तेदार तथा तहसीलदार ने उनका पीछा किया और समझा-बुझाकर उन्हें वापस लाये थे और किस खूबी के साथ स्वयं शासन-भार उठाया था, इसका ज़िक्र करते हुए आपने लिखा था—"देशी आदमियों के विषय में यह शिकायत की जाती है कि संकट के अवसर पर पीठ दिखा देते हैं और भाग खड़े होते हैं; पर मुज़फ्फरनगर के कलक्टरसाहब का किस्सा क्या बतलाता है? न तो हिंदुस्तानी ही वक्त आन पड़ने पर हमेशा कायरता दिखलाते हैं और न अंग्रेज ही, चाहे वह मुज़फ्फरनगर के कलक्टरसाहब की तरह गौरवर्ण तथा उच्चवंशीय क्यों न हों, हमेशा संकट के समय बहादुर सिद्ध होते हैं।"

अंग्रेजों और भारतीयों के चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन करने का जो मौका ह्यूमसाहब को मिला था, वैसा हज़ारों में एक ही आध

अफसर को मिलता है। उन्होंने अपनी राय निम्नलिखित शब्दों में प्रकट की थी—

"अंगरेज़ों तथा भारतीयों में ऐसे गुण अथवा अवगुण पाये जाते हैं—कोई एक चीज में कम है तो दूसरे में ज्यादा और कोई एक गुण में अधिक है तो दूसरे में कम—कि अगर इंसाफ के साथ एक दूसरे की तुलना की जाय, गुणों-अवगुणों का लेखा-जोखा ठीक तौर पर किया जाय, तो दोनों जातियां एक-सी ही सिद्ध होंगी। अगर आप सर्वोत्तम कोटि के भारतीयों की तुलना इंग्लण्ड के मामूली अगड़ं-बगड़ं आदमियों से करेंगे, तो ये अंगरेज लोग वैसे ही प्रतीत होंगे, जैसे महान् पुरुषों के सामने बन्दर। और अगर आप भारत आनेवाले उन चुने-चुनाये अंगरेजों के मुकाबले में, जिन्हें वर्षों तक ट्रेनिंग मिलती है और जिम्मेदारी के कारण जो संयमशील तथा शक्तिशाली बन जाते हैं, भारतवर्ष के मामूली आदमियों को रख देंगे, तो अंगरेज अफसर उन साधारण आदमियों के सामने देवता सिद्ध होंगे। लेकिन अगर आप न्यायपूर्वक सर्वोत्तम अंगरेजों के साथ सर्वोत्तम भारतीयों की तुलना करेंगे, तो न्यूनाधिक मात्रा में गुणावगुण दोनों में पावेंगे, और अन्त में आप इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि ये दोनों एक दूसरे से न अच्छे हैं और न बुरे।"

इसके बाद मि० ह्यूम ने लिखा था—

"यदि अंगरेज लोग अपने जातीय पक्षपात को दूर कर दें और दोनों जातियों की तुलना बिल्कुल न्यायपूर्वक करें, तो उनकी ये आशंकाएं कि भारतीयों को उच्च पद देने में भयंकर खतरा है, दूर हो जायंगी, और अंग्रेजों में जो सर्वोत्तम हैं, वे इस दशा में सुधारों के उतने ही प्रबल समर्थक बन जायंगे, जितने कि वे आजकल इन आवश्यक तथा न्यायपूर्ण सुधारों के जोरदार विरोधी हैं।

"अगर यह बात पूछी जाय कि अंग्रेजों में अकेला मैं ही क्यों उपर्युक्त बात का समर्थन करता हूं, तो इसका उत्तर मैं यही दूंगा (भले ही इसमें किसीको अहंकार का गंध आवे) कि भारतीयों के विषय में जितनी

जानकारी मुझे है, उतनी अधिकांश अंग्रेजों को नहीं है, और इस जानकारी को प्राप्त करने के अनेक अवसर मुझे मिले हैं। अपनी नौकरी से इस्तीफा देने के बाद मैंने सम्पूर्ण भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों की यात्रा की है, और प्रत्येक प्रांत के अच्छे-से-अच्छे भारतीयों के साथ मैं समानता तथा मित्रता के भाव के साथ मिला हूं। सम्पूर्ण भारत मेरे इस कथन की साक्षी देगा। मैंने ऊपर जो बातें कही हैं, वे प्रेम से प्रेरित होकर कही हैं—स्वजातीयों के प्रति प्रेम तथा अपने हिन्दुस्तानी भाइयों के प्रति प्रेम—पर मैं नहीं जानता कि मेरे जाति-भाई अंग्रेज लोग इन बातों की ओर ध्यान देंगे भी या नहीं। पर इतना मैं अवश्य जानता हूं कि ये अंग्रेज लोग मुझे खतरनाक पागल आदमी या खुराफाती और बुराइयों को पैदा करनेवाला जरूर कहते हैं, जबकि मैं अपना तमाम समय और तमाम पैसा, खर्च कर रहा हूं, उन सुधारों के लिए, जो न्याययुक्त हैं और जिनका लाना भारत के लिए ही नहीं—जिसे मैं अब अपनी मातृभूमि की तरह ही मानता हूं—बल्कि खुद अंग्रेजों के हित के लिए भी आवश्यक है। मेरे निन्दक इस बात को भूल जाते हैं कि मैं अब बूढ़ा हो गया हूं, और मुझे भारतीयों के पक्ष-समर्थन से कुछ मिल थोड़े ही जायगा और न मैं उनसे किसी चीज की आशा ही करता हूं। मेरे मन में तो बस एक ही आकांक्षा है। वह यह कि यहां से जाने के पहले मैं अपने भिन्न-भिन्न जातियों के भाइयों की कुछ सेवा कर जाऊं। अंग्रेज लोग मेरी बातों पर ध्यान दें चाहे न दें; पर न्यायपूर्वक इतना तो उन्हें स्वीकार करना ही चाहिए कि भारतीयों के साहस, स्वामिभक्ति, उदारता और शासन-शक्ति के जो उदाहरण मैंने अपने अनुभव से दिये हैं—और जो अनुभव मुझे हुए हैं, उनका बहुत थोड़ा भाग ही मैं बतला सका हूं—इन सबको जानते हुए भी यदि ऐसे अवसर पर जब भारतीयों को इन गुणों से वंचित बतलाया जाता है, मैं चुप रह जाऊं, इस अन्याय के प्रति अपनी आवाज बुलन्द न करूं और जिस सत्य को जानने के जो असाधारण अवसर मुझे मिले हैं, उसे सर्वसाधारण पर प्रकट न करूं, तो मैं अपनेको

अंग्रेज पैदाइश के अयोग्य सिद्ध करूंगा।'

एक मार्च सन् १८८३ को मि० ह्यूम ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी के स्नातकों के नाम एक गश्ती चिट्ठी भेजी, जिसमें उन्होने लिखा था—

"यदि सिर्फ पचास आदमी, जो सच्चे और भले हों, मिल जायं, तो वे इस संस्था को कायम कर सकते हैं, और फिर उसके बाद उसका विकास आसानी के साथ हो सकता है।"

इस गश्ती चिट्ठी के अंतिम भाग का अनुवाद हम श्री हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'कांग्रेस का इतिहास'[1] से यहां उद्धृत करते हैं—

"और यदि देश के विचारशील नेता भी या तो सब-के-सब ऐसे निर्बल जीव हैं, या अपनी स्वार्थ-साधना में ही इतने निमग्न हैं कि अपने देश के लिए कोई साहसपूर्ण कार्य नहीं कर सकते, तब कहना होगा कि वे सही और वाजिब तौर पर ही दबाकर रखे और पददलित किये गए हैं, क्योकि वे इमसे ज़्यादा अच्छे व्यवहार के योग्य ही नहीं थे। प्रत्येक राष्ट्र ठीक-ठीक वैसी ही सरकार प्राप्त कर लेता है, जिसके कि योग्य वह होता है। यदि आप, जो देश के चुनीदा लोग हैं, जो बहुत ही उच्च शिक्षा-प्राप्त हैं, अपने सुख-चैन और स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को नहीं छोड़ सकते और अधिकाधिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए लड़ने का निश्चय नहीं कर सकते, जिससे कि आपके देशवासियों को अधिकाधिक लाभ हो, वे अपने घर का प्रबन्ध करने में अधिकाधिक हिस्सा लें, तब मानना होगा कि हम, जो कि आपके मित्र हैं, ग़लती पर हैं, और जो हमारे विरोधी हैं, उनका कहना ही सही है; तब मानना होगा कि लार्ड रिपन की आपके हित के संबंध में जो उच्च आकांक्षाएं हैं, वे निष्फल होंगी और वे हवाई ठहरेंगी; तब कहना होगा कि प्रगति की तमाम आशाएं अब नष्ट समझना चाहिए, और हिंदुस्तान सचमुच उसकी मौजूदा सरकार से

१ 'सस्ता साहित्य मण्डल' नई दिल्ली से प्रकाशित

बेहतर शासन प्राप्त करना न तो चाहता है और न उसके योग्य ही है। और यदि यही बात सच है, तो फिर न तो आपको इस बात पर मुंह ही बनाना चाहिए, न शिकायत ही करनी चाहिए कि हम जंजीरों में जकड़ दिये गए हैं और हमारे साथ बच्चे का-सा व्यवहार किया जाता है, और न आपको इसके विरोध में कोई दल ही खड़ा करना चाहिए, क्योंकि आप अपनेको इसी लायक साबित करेंगे। जो मनुष्य होते हैं, वे जानते हैं कि काम कैसे करना चाहिए, इसलिए अब से आप इस बात की शिकायत न कीजियेगा कि बड़े-बड़े ओहदों पर आपकी बनिस्बत अंग्रेजों को क्यों तरजीह दी जाती है; क्योंकि आपमें वह सार्वजनिक सेवा का भाव नहीं है, वह उच्च प्रकार की परोपकार-भावना नहीं है, जो सार्वजनिक हित के सामने व्यक्तिगत ऐशो-आराम को छोटा बना देती है; देशभक्ति का वह भाव नहीं है, जिसने कि अंग्रेजों को वैसा बना दिया है, जैसे कि वे आज हैं; और मैं कहूंगा कि वे ठीक ही आपकी जगह तरजीह पाते हैं, और उनका लाजिमी तौर पर आपका शासक बन जाना भी ठीक है; बल्कि वे आगे भी आपके अफसर बने रहेंगे, और आपके कंधों पर रखा हुआ जुआ तबतक दुःखदायी न होगा, जबतक कि आप इस विचार-सत्य को अनुभव नहीं कर लेते और इसके अनुसार चलने की तैयारी नहीं कर लेते कि आत्म-बलिदान और निःस्वार्थता ही सुख और स्वातंत्र्य के अचूक पथ-प्रदर्शक हैं।"

इस अपील का यथोचित परिणाम हुआ, और आवश्यक संख्या में संस्थापक मिल गये। उन लोगों ने मिलकर 'इंडियन नेशनल यूनियन' नामक संस्था की स्थापना की। मि० ह्यू म ही इस संस्था के जनरल-सेक्रेटरी हुए। इस यूनियन की शाखाएं कराची, अहमदाबाद, सूरत, बंबई, पूना, मदरास, कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा और लाहौर में कायम हुईं। इन सबको सुसंगठित करने का काम मि० ह्यू म के ही सुपुर्द हुआ। अपने इस कर्तव्य का सुचारु रूप से पालन करके मि० ह्यू म विलायत के लिए रवाना हुए

श्रौर वहां के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आदमियों से मिले। विलायत में भारतीयों की स्थिति के विषय में किस प्रकार प्रचार किया जाय, इस विषय पर उन्होंने विचार-परिवर्तन किया और कितने ही प्रसिद्ध पत्र-संपादकों को इस बात पर राज़ी कर लिया कि यदि उनके पास भारत से किसी जिम्मेवार संस्था द्वारा समाचार भेजे जायंगे, तो वे अपने पत्रों में उन्हें छाप देंगे। पार्लमिंट भी किस तरह भारत के मामले में अधिक दिलचस्पी ले, इस विषय पर भी ख़ास-ख़ास आदमियों से बातचीत हुई। विलायत में इस प्रकार भारत की ओर से प्रचार करने के बाद मि० ह्यूम इस देश को वापस लौट आये। यहां आकर २७ दिसंबर सन् १८८५ ई० को बंबई में कांग्रेस की स्थापना में उन्होंने सहयोग दिया।

किस अदम्य उत्साह के साथ मि० ह्यूम ने कांग्रेस की सेवा की, उसका विस्तृत वृत्तांत यहां नहीं दिया जा सकता। कितने ही पैम्फलेट उन्होने कांग्रेस की ओर से निकाले थे। एक था—'वृद्ध आदमी की आशा'। इसमें बड़े भावपूर्ण शब्दों में विलायत के धनी आदमियों से अपील की गई थी कि वे भारत के निर्धन किसान-मज़दूरों की दुर्दशा की ओर ध्यान दें। मि० ह्यूम ने लिखा था—

"ओ ! इंग्लैंड के भरपेट भोजन पानेवाले और सुखी निवासियो ! क्या तुम्हें भारत के असंख्य आदमियों के दुःखमय जीवन का कुछ भी पता है ? क्या तुम जानते हो कि अपने जन्म से मृत्यु तक उनके दुःखपूर्ण अंधकारमय पथ में सुख की कितनी किरणों का प्रवेश हो पाता है ? मेहनत, मेहनत, मेहनत ; हाय भूखे, हाय भूखे, हाय भूखे ; बीमारी, कष्ट, दुःख ; हा ! हा ! उनके कष्टपूर्ण क्षुद्र जीवन की बस यही राम-कहानी है !"

सन् १८९४ में मि० ह्यूम ने भारतवर्ष से विदा ली। १८ मार्च को बंबई प्रेसीडेंसी ऐसोसियेशन की ओर से उन्हें एक मानपत्र दिया गया था और उसके उत्तर में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था।

इसके बाद वह जबतक जीवित रहे, इंग्लैंड में भारतीयों के हित के लिए कार्य करते रहे।

मि० ह्यूम के जीवन के एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य के विषय में लिखने के लिए यहां स्थान नहीं है। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मि० ह्यूम पक्षी-विज्ञान के आचार्य समझे जाते थे और वह अपने जीवन-भर भारत के भिन्न-भिन्न पक्षियों का अध्ययन करते रहे। उन्हींके कारण इटावा ने पक्षी-विज्ञान के विशेषज्ञों के लिए तीर्थ-स्थान का रूप धारण कर लिया! इटावा में मि० ह्यूम बहुत दिनों तक कलक्टर रहे थे और वहां के लिए उन्होंने बहुत-कुछ कार्य भी किया था। इटावा के आस-पास की चिड़ियों का उन्होंने बड़ा गंभीर अध्ययन किया था। इस विषय पर ग्रंथ भी लिखे थे, और वह 'स्ट्रे फेदर्स' नामक पत्रिका का संपादन भी करते रहे थे। उनका पक्षी-संग्रहालय भारत के लिए एक अद्भुत चीज़ थी, और उसपर उन्होंने अपनी कमाई का बड़ा भारी हिस्सा—तीन-चार लाख रुपया—व्यय कर दिया था। सन् १८८५ में उन्होंने उसे ब्रिटिश म्यूज़ियम को दान में दे दिया।

विलायत पहुंचकर भी मि० ह्यूम चुपचाप नहीं बैठे रहे। ८४ वर्ष की उम्र तक वह बराबर काम करते रहे। अंतिम वर्षों में उन्होंने वनस्पति-शास्त्र का बहुत विस्तृत अध्ययन किया और अपने यहां एक वनस्पति-संग्रहालय भी स्थापित किया था। उसे भी उन्होंने अपने देश को अर्पित कर दिया।

३१ जुलाई सन् १९१२ को ८४ वर्ष की उम्र में मि० ह्यूम का स्वर्गवास हो गया। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में उनके लिए शोक-सभाएं की गईं।

बीसियों ग़लतफहमियों का शिकार होते हुए भी मानव-जाति-हितैषी किस प्रकार निःस्वार्थ भाव से दूसरी जातियों के उद्धारार्थ निरंतर प्रयत्न करते हैं, मि० ह्यूम का जीवन इसका एक उज्ज्वल दृष्टांत है। कवीन्द्र

श्री रवीन्द्रनाथ ने अपने एक पत्र में मि० ऐण्ड्र ज को लिखा था :

("किसी भी देश के विषय में फैसला करते हुए हमें उस भूमि में उत्पन्न सर्वोत्तम मनुष्यों का ही खयाल करना चाहिए, और मैं यह निस्संकोच कह सकता हूं कि अंग्रेज़ों में जो सबसे अच्छे हैं, उनकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों में की जानी चाहिए ।")

: ६ :

हैरियट एलीज़बेथ स्टो

पांच बच्चों की एक मां ने जब उसके छठवां बच्चा हुआ था, अपनी भाभी को एक पत्र में लिखा था—"भाभी, जबतक बच्चा रात को मेरे पास सोता है, तबतक मैं कोई काम नहीं कर सकती; पर मैं करूंगी अवश्य। अगर जिन्दा रही तो दासत्व-प्रथा के खिलाफ जरूर लिखूंगी।"

अमरीका में उन दिनों गुलामी की प्रथा जोरों पर थी। बेचारे नीग्रो लोगों को नरकतुल्य यातनाएं सहनी पड़ती थीं। जानवरों की तरह उनकी खरीद और बिक्री की जाती थी। मां बच्चों से अलग की जाती थी, पति पत्नी से, पिता पुत्र-पुत्रियों से! गुलामों की इस दुदशा को देखकर श्रीमती हैरियट एलीज़बेथ स्टो का दिल पिघल गया, और उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि इस दासत्व-प्रथा के विरुद्ध अवश्य कार्य करूंगी।

एक बार उन्होंने लिखा था—"अगर मेरे समुद्र में डूबने के साथ-साथ गुलामी की प्रथा के तमाम पाप और अत्याचार भी डूब जायं, तो मैं समुद्र में डूबकर प्राण देने को भी तैयार हो जाऊंगी।"

रविवार का दिन था। मिसेज़ स्टो गिरजाघर गई हुई थीं और वहां धर्मोपदेश सुन रही थीं कि एक साथ उनके मन में पुस्तक प्रारम्भ कर देने की प्रेरणा उत्पन्न हुई और उन्होंने पहला अध्याय वहींपर बैठे-बैठे लिख डाला। फिर उन्होंने वह अध्याय अपने बच्चों को सुनाया। सुनकर बच्चों की आंखों से आंसू टपाटप टपकने लगे! इतने में मिसेज़ स्टो के पतिदेव भी आ गये। बच्चों को रोते हुए देखकर वह आश्चर्य-चकित

रह गये। समझ में नहीं आया कि माजरा क्या है ! तब मिसेज़ स्टो ने वह अध्याय पति को भी सुनाया, और वह भी रोने लगे ! इस प्रकार प्रारम्भ हुआ उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का, जिसने आगे चलकर संसार में अक्षय कीर्ति प्राप्त की, जिसका अनुवाद शीघ्र ही तेईस भाषाओं में हो गया और जिसकी लाखों ही कापियां तुरन्त ही जनता के हाथों तक पहुंच गईं। इस पुस्तक का नाम है (Uncle Tom's Cabin) (टाम काका की कुटिया) इस पुस्तक ने लाखों ही आदमियों को रुलाया और हज़ारों ही आदमियों को गुलामी की प्रथा का घोर विरोधी बना दिया। औरतें बर्तन साफ करते समय आपस में बातचीत करतीं, "बहन, तुमने 'टाम काका की कुटिया' पढ़ी है ? बड़ी हृदय-बेधक है !" मज़दूर बोझा ढोते समय कहते, "बड़ी भयंकर पुस्तक है ! पढ़कर तबीयत दहल जाती है।" क्या सड़क पर, क्या बाज़ार में और क्या होटलों में, सर्वत्र इसीकी चर्चा थी। इस किताब ने लोगों के हृदय में आग-सी लगा दी। वे दक्षिणी रियासतों से, जहां यह गुलामी की प्रथा प्रचलित थी, घोर घृणा करने लगे। दरअसल इस एक पुस्तक ने गुलामी-प्रथा के उच्छेद के लिए जो कार्य किया, वह किसी पुस्तक ने अभी तक नहीं किया था। उत्तरी और दक्षिणी रियासतों में इसने युद्ध करा दिया और गुलामी-प्रथा को जड़-मूल से नष्ट ही करा दिया ! सन् १८६३ में जब मिसेज़ स्टो अमरीका के राष्ट्रपति-भवन (ह्वाइट हाऊस) में गईं और उनका परिचय प्रेसिडेन्ट लिंकन से कराया गया, तो लिंकन ने, जो कद के काफी ऊंचे थे, मिसेज स्टो से हाथ मिलाते हुए कहा, "क्या इसी छोटी-सी महिला ने वह महान् युद्ध करा दिया ?"

हैरियट एलीजबेथ का, जिनका नाम आगे चलकर स्टो हुआ था, जन्म १४ जून सन् १८११ को संयुक्त राज्य अमरीका के लिचफील्ड नामक स्थान में हुआ था। वह अपने माता-पिता की सातवीं सन्तान थीं। हैरियट को अधिक दिनों तक मातृस्नेह प्राप्त नहीं हुआ। जब वह कुल चार वर्ष की ही थीं, इनकी पूज्य माता का स्वर्गवास हो गया। इसलिए

इनके लालन-पालन का भार पड़ा इनकी बड़ी बहन कैथेराइन पर, जो उस समय पन्द्रह वर्ष की थीं। और उन्होंने एक स्कूल भी कायम कर रखा था। हैरियट को उन्होंने अपने स्कूल में ही पढ़ाया और आगे चलकर इसी स्कूल में ये छोटी बहन मास्टरनी भी बन गईं। सन् १८२३ में हैरियट के पिताजी एक धार्मिक विद्यालय के प्रधान बनकर सिनसिनाटी नामक नगर को गये और उनके साथ में दोनों बहनें भी गईं। बड़ी बहन का विचार एक कन्या-महाविद्यालय कायम करने का था, और हैरियट अपनी बहन की सहायक के रूप में वहां गई थी। विद्यालय के साहित्यिक जीवन में हैरियट खूब भाग लेती थी। स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में छोटे-छोटे लेख भी लिखती थी। दो-चार कहानियां और स्केच भी उसने लिखे थे, और अपनी जीजी की मदद से उसने भूगोल की एक किताब भी बना डाली थी! पिताजी के धार्मिक विद्यालय में एक अध्यापक थे, जिनका नाम था कैलविन ऐलिस स्टो। ६ जनवरी सन् १८३६ को हैरियट का विवाह मि० स्टो के साथ हुआ, और तबसे वह श्रीमती स्टो के नाम से प्रख्यात हुईं। दुर्भाग्यवश मि० स्टो का स्वास्थ्य खराब रहा करता था और आमदनी भी उनकी थोड़ी ही थी। मिसेज़ स्टो को बहुत चिन्ताग्रस्त रहना पड़ता था और कभी-कभी खाने-पीने का भी कष्ट हो जाता था, इसलिए पतिव्रता मिसेज़ स्टो को लेख लिखकर कुछ कमाना पड़ता था। इस प्रकार अपने पति की आर्थिक सहायता भी वह करती थीं। सन् १८४३ में 'मे फ्लावर' नाम से उनकी कहानियों और स्केचों का संग्रह प्रकाशित हुआ। सन् १८५२ में उनकी अमर पुस्तक 'टाम काका की कुटिया' छपकर जनता के सम्मुख आई। किन-किन कठिनाइयों में मिसेज़ स्टो को अपना साहित्यिक कार्य करना पड़ता था, इसका अन्दाज़ निम्नलिखित बातों से लग सकता है।

उन्हें घर-गृहस्थी का सारा काम—बर्तन साफ करना, कपड़े धोना, कपड़े सीना, भोजन बनाना, सामान ठीक-ठिकाने रखना इत्यादि—खुद ही करना पड़ता था। खुद ही वह किवाड़ों पर रंग

करती थीं, तकिये, गिलाफ, रजाई सीती थीं; और तो और, पति के जूतों की भी सिलाई वह खुद ही कर लेती थीं! एक बार वह अपने लिए कोई कपड़ा काट रही थीं कि उनकी एक पड़ोसिन ने कहा, "कोई नमूना भी तुम्हारे सामने है कि योंही कपड़ा काटती जाती हो?" मिसेज़ स्टो ने उत्तर दिया, "बहन, मेरा खयाल है कि अपनी शकल तो मैं जानती ही हूं।" पतिदेव हेब्रू, ग्रीक, लेटिन तथा अरबी के ग्रन्थ पढ़ा करते थे और विद्यालय में बाइबिल पढ़ाया करते थे। अपनी पत्नी से प्रसन्न होकर एक बार उन्होंने कहा था—"तुम्हारी जैसी स्त्री दुनिया में थोड़े ही मिल सकती है। भला, कौन औरत ऐसी होगी, जो इतनी परिश्रमशील हो और इतनी किफायतसार, जिसकी भाषणशक्ति इतनी प्रबल हो; पर जो कभी डाट-फटकार न बतलावे, जिसमें इतना माधुर्य हो और साथ-ही-साथ इतनी दृढ़ता?"

उसका उत्तर मिसेज स्टो ने बड़ी मधुरतापूर्वक दिया था, "अगर तुम पहले से ही मेरे प्रिय पति न होते, तो जरूर ही तुम्हारे गुणों पर मुग्ध होकर मैं तुम्हारे प्रेम में फंस गई होती!"

मिसेज स्टो में मातृत्व काफी था। बच्चों की सेवा-शुश्रूषा करते हुए अपने जीवन को खपा देने में वह अपना गौरव मानती थीं। स्कूल के दिनों की अपनी एक सहेली को उन्होंने चिट्ठी में लिखा था, "बहन, मुझे तो अपने छः बच्चों की देखभाल और उनका पालन-पोषण करने में बड़ा आनंद आता है। इच्छा होती है कि इसी प्रिय कार्य को करते-करते बूढ़ी हो जाऊं, अपना जीवन बिता दूं। मैं चाहती हूं कि कभी तुम यहां आकर इन बच्चों के बीच में मुझे देखो। मेरी सारी चिंताओं और विचारों का वे केन्द्र हैं, और यदि वे कहीं दूसरी जगह चले जायं, तो मेरे जीवन के लिए क्या आकर्षण रह जाय? ये बच्चे ही मेरे कार्यक्षेत्र हैं और डरती-कांपती हुई इन्हींकी मैं सेवा किया करती हूं।"

सन् १८५६ में सिनसिनाती नगर में हैजे का प्रकोप हुआ और एक दिन में ही डेढ़ सौ आदमियों की मृत्यु हो गई, जिनमें एक बच्चा मिसेज

स्टो का भी था। पतिदेव स्वास्थ्य-सुधार के लिए दूर गये हुए थे, और वह बेचारी अकेली ही बच्चों की देखभाल कर रही थीं। प्रेमी माता के दुःख का अनुमान किया जा सकता है। जिन दिनों मिसेज स्टो पुत्र-शोक के वज्राघात से पीड़ित थीं और जिन दिनों उनकी गोद का बच्चा दूध पीता था, उन्हीं दिनों मातृ-हृदय की असीम करुणा से प्रेरित होकर उन्होंने इस अमर पुस्तक की रचना की थी। पुस्तक के फार्म जब छप-छपकर आते थे, तो वह उन्हें अपने पति और बच्चों को सुनाती थीं। सब बैठकर एक साथ पवित्र आंसू बहाते थे। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि 'टाम काका की कुटिया' ने आगे चलकर असंख्य पाठक-पाठिकाओं को रुलाया। पुस्तक की सफलता का अन्दाज़ इसीसे लगाया जा सकता है कि पुस्तक के छपते ही उसकी तीन लाख प्रतियां एक साथ बिक गईं। आठ प्रेस इसी अकेली पुस्तक के छापने में लगे हुए थे। अमरीका के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखकों और कवियों ने मिसेज स्टो के पास बधाई की चिट्ठियां भेजीं। इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध लेखक डिकिन्स, मेकाले, किंग्सले, लार्ड कार्ललाइसिल इत्यादि ने उनका अभिनन्दन किया। इंग्लैंड में पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि एक साल में इसकी डेढ़ लाख प्रतियां बिक गईं। पेरिस में इसके आधार पर एक ड्रामा लिखा गया और खेला गया। यह आठ अंकों में समाप्त हुआ था और जनता इसे रात के डेढ़ बजे तक देखती रही और रोती रही। फ्रेंच, जर्मन, रशियन, जापानी, चीनी, हिंदी इत्यादि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। पुस्तक के प्रकाशित होने के चार महीने बाद मिसेज स्टो को १० हजार डालर (या ३० हजार रुपये) का एक चेक मिला और तब उन्होंने अपने पति को लेकर पहली बार यूरोप-यात्रा की। यूरोप से लौटकर उन्होंने एक दूसरी पुस्तक लिखी—'A key to Uncle Tom's Cabin' (टाम काका की कुटिया की कुंजी)। इस ग्रन्थ में उन्होंने अकाट्य प्रमाणों द्वारा अपनी कहानी की सत्यता सिद्ध की थी। मिसेज स्टो ने और भी कई ग्रन्थ लिखे जिनमें मुख्य के नाम ये हैं—

1. Dred, a Tale of the Dismal Swamp. 2. The Minister's Wooing.

उन्होंने धार्मिक कविताओं का एक संग्रह भी प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त वह 'अतलांतिक मंथली', 'इंडिपेंडेंट', 'क्रिश्चियन यूनियन' इत्यादि पत्रों में लेख भी लिखा करती थीं। इनके भाई इन पत्रों में सहायक सम्पादक या सम्पादक का कार्य करते थे, और इन दोनों भाई-बहनों की साहित्य-सेवा वास्तव में आदर्श थी। सन् १८३३ में पतिदेव ने अपने अध्यापकी के कार्य से छुट्टी ले ली। मिसेज स्टो का एक पुत्र कैप्टन फ्रेडरिक बीचर स्टो युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ा था और बहुत घायल हो गया था। प्रेमी माता ने अपने पुत्र के स्वास्थ्य-लाभ के लिए फ्लोरिडा में एक कोठी खरीदी और वहां उसके साथ रही। सन् १८८६ में मिसेज स्टो के पति का देहान्त हो गया। इसके बाद दस वर्ष तक और वह जीवित रहीं; पर अब इस सती-साध्वी विधवा का जीवन सर्वथा एकान्तमय था। पहली जुलाई सन् १८९६ को ८५ वर्ष की उम्र में वह स्वर्ग सिधारीं। अण्डोवर नामक स्थान में पति की समाधि के पास ही उनकी समाधि बनी हुई है।

वह दिन हमें अच्छी तरह याद है, जब रेल में बैठे-बैठे हमने 'टाम काका की कुटिया' पढ़ी थी और पुस्तक से मुंह ढंककर आंसू बहाये थे, जिससे साथ के यात्री रोने का कारण न पूछ बैठें! यदि जीवन में कभी अमरीका-यात्रा का अवसर मिला, तो तीन स्थानों की तीर्थ-यात्रा हम अवश्य करेंगे—एक तो एमर्सन का घर, दूसरा मिस्टर और मिसेज स्टो की समाधि और तीसरा थोरे का वाल्डेन।

: ७ :

अमर कलाकार ज्विग

"येनाहम् अमृत स्याम् ते नाहं किं कुर्याम ।"

—"जो चीज़ मुझे अमर नहीं बनाती, उसे लेकर मैं क्या करूंगी ?" आज से सहस्रों वर्ष पूर्व यह वाणी भारतीय आकाश में गुंजायमान हुई थी। याज्ञवल्क्य की पत्नी के इस अमर वाक्य में साहित्यिकों के लिए भी एक महान् संदेश था। भारत में इस वाणी को अनेक साहित्यिकों ने सुना, जिनमें महात्मा तुलसीदास और कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि प्रमुख थे। विदेशों में भी इस सत्य के अनुयायी साहित्यिक उत्पन्न हुए। फ्रांस के रोमां रोलां और आस्ट्रिया के स्टीफन ज्विग का नाम स्वर्गीय कवीन्द्र के साथ-साथ ही लिया जा सकता है।

ज्विग की साहित्य-साधना का अन्दाज़ हम इसीसे लगा सकते हैं कि उन्होंने अपने बयालीस वर्षीय साहित्यिक जीवन में दस लाख पृष्ठ लिखे थे और अपने लिखे को संक्षिप्त करने तथा अपनी रचना में प्रवाह लाने की धुन में उन्होंने इनमें से कम-से-कम आठ लाख पृष्ठ फाड़ फेंके थे!

ज्विग को विवादग्रस्त राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी और न पदों के 'प्रति कोई मोह। एक बार उन्हें आस्ट्रियन सरकार ने अपना राजदूत बनाकर विदेश भेजने की बात सोची थी, पर ज्विग ने उस प्रलोभन को अस्वीकार कर दिया। किसी पार्टी-विशेष का प्रोपेगेन्डा करना उनकी रुचि के सर्वथा प्रतिकूल था, अपने सिद्धान्तों को बिक्री

करने की बात वह स्वप्न में भी नहीं सोचते थे और कीर्ति या विज्ञापन की उन्हें ज़रूरत नहीं थी। आज के युग में जबकि जीवन-संघर्ष निरंतर भयंकर होता जा रहा है, सजीव साहित्यकों के लिए ज्विग के जीवन का एक संदेश है। ज्विग ने एक जगह लिखा है—

"मैंने तमाम बाहरी सम्मानों को अस्वीकार ही किया है। कभी किसी पद, प्रतिष्ठा अथवा उपाधि इत्यादि को ग्रहण नहीं किया। न किसी सभा का प्रधान बना और न किसी सोसाइटी या कमेटी अथवा परिषद से अपना सम्बन्ध रखा। भोजों में शामिल होना मेरे लिए अत्यन्त कष्टप्रद रहा है और किसीसे कुछ मांगने से पहले ही, चाहे वह प्रार्थना परोपकारार्थ ही क्यों न हो, मेरी जबान सूख जाती है।"

ज्विग का महत्त्व समझने के लिए इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि लीग ऑव नेशन्स (राष्ट्र संघ) की अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग नामक एक संस्था ने अपनी एक रिपोर्ट में लिखा था—

"इस समय संसार में सबसे अधिक अनुवादित ग्रन्थकार स्टीफन ज्विग हैं।"

अंग्रेजी, फ्रांसीसी, डच, स्पैनिश, इत्यादि यूरोप की अनेक भाषाओं में उनके ग्रन्थों के अनुवाद हुए हैं और इनके अतिरिक्त जापानी, मराठी, उर्दू तथा हिंदी में भी उनकी कई पुस्तकों के तर्जुमे छप चुके हैं। इन भाषाओं की संख्या तेतीस से कम नहीं।

२३ फरवरी विश्वसाहित्य के इतिहास में एक महान् दुर्घटना का दिवस है, क्योंकि उस दिन उस विश्वविख्यात लेखक ने ब्राजिल के पेट्रोपालिश नामक स्थान पर सपत्नीक आत्मघात किया था!

यदि किसी लेखक को नाजीवाद के अत्याचारों को सबसे अधिक मात्रा में सहन करना पड़ा तो वह स्टीफन ज्विग ही थे। उनकी किताबें लाखों की संख्या में जर्मनी में फैली हुई थीं, वे सब जब्त कर ली गईं, जलवा दी गईं और बची-खुची तालों में बन्द कर दी गईं! उन्हें एक मुल्क से दूसरे मुल्क में भागे-भागे फिरना पड़ा। उनकी लाखों की कीमत

का साहित्यिक संग्रहालय छिन्न-भिन्न हो गया और उनके पारिवारिक कष्ट भी पराकाष्ठा को पहुंच गये। अपनी पूज्य वृद्धा माता की अन्तिम बीमारी के दिनों में वह उनके पास भी न पहुंच सके! ज्विग आस्ट्रियन थे, संसार के नागरिक थे, उनका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय था और वह शांतिवादी थे। इनमें से एक ही चीज उनकी अनुभूतियों को कष्टमय बनाने के लिए पर्याप्त थी, पर उनमें तो ये सभी एकत्र हो गई थीं! इसीलिए उन्हें भरपूर मात्रा में कालकूट का पान करना पड़ा।

अपनी पत्नी के साथ विषपान करने से पहले जो अंतिम पत्र उन्होंने लिखा था, उसका अनुवाद यहां दिया जाता है।

"स्वेच्छा से और अपने होश-हवास की दुरुस्तगी में अपने प्राण त्याग करने के पहले मैं अपना अंतिम कर्त्तव्य पालन करना चाहता हूं। मैं ब्राजिल देश की आश्चर्यजनक भूमि को, जिसने मुझे प्रेमपूर्ण आश्रय दिया, हार्दिक धन्यवाद देता हूं। इस भूमिखंड के प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा दिनों-दिन बढ़ती ही गई है और यदि कोई देश ऐसा है, जहां मैं अपना जीवन पुनः प्रारम्भ कर सकता था तो वह ब्राजिल ही है, क्योंकि मेरी मातृभाषा की भूमि मेरे लिए समाप्त हो चुकी है और मेरी आध्यात्मिक मातृभूमि यूरोप ने आत्मघात कर लिया है।

"लेकिन अब मैं साठ वर्ष से ऊपर का हो चुका हूं और अब बिल्कुल नवीन जीवन प्रारम्भ करने के लिए असाधारण शक्ति की आवश्यकता है। जो शक्ति मुझमें थी, वह वर्षों तक लामकान होकर इधर-से-उधर भागे-फिरने में खर्च हो चुकी है। इसलिए मैं यही ठीक समझता हूं कि इस ज़िन्दगी का खातमा कर दिया जाय। जिस जीवन में मुझे बौद्धिक परिश्रम से सबसे अधिक आनन्द मिला और जिससे मैंने व्यक्तिगत स्वाधीनता को ही संसार की सर्वोच्च वस्तु समझा, उसकी समाप्ति ठीक समय पर, जबकि मैं तनकर खड़ा हो सकता हूं, हो जानी चाहिए। सम्पूर्ण मित्र-मण्डल को मैं नमस्कार करता हूं। ईश्वर करे कि दीर्घ रात्रि के बाद उषा के दर्शन करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हो। मैं तो

अपना धैर्य खो चुका हूं, इसलिए उसके पहले ही विदा होता हूं।

—स्टीफन ज्विग"

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से इन पंक्तियों का लेखक स्टीफन ज्विग की रचनाओं को बार-बार पढ़ता रहा है और वे उसके लिए निरन्तर ताज़ी ही रही हैं।

ज्विग अत्यन्त सहृदय व्यक्ति थे और यद्यपि संसार के भिन्न-भिन्न साहित्यिक महारथियों से उनकी मित्रता थी, रोमा रोलां, गोर्की इत्यादि से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था तथापि उनको सबसे अधिक आनन्द आता था छुटभइयों की सेवा और सहायता में और उनकी साहित्यिक उन्नति के लिए वह तन-मन से प्रयत्न करते थे।

ज्विग के एक मित्र वरफेल ने एक बार लिखा था—

"ज्विग की तरह उदारतापूर्वक तथा मुक्त-हस्त से अपने मित्रों को सहायता करनेवाला दूसरा कोई लेखक विद्यमान नहीं।"

स्वर्गीय साहित्य-सेवियों को श्रद्धांजलि अर्पित करना अथवा साहित्यिक अग्रेजों का गुणगान करना तो मानों ज्विग के हिस्से में ही आया था। उनके लिखे हुए महत्त्वपूर्ण जीवन-चरित इस बात के प्रमाण हैं। रोमा रोलां की सर्वोत्तम जीवनी ज्विग ने ही लिखी थी। टाल्स्टाय के चरित्र का विश्लेषण सर्वोत्तम ढंग पर उन्होंने ही किया था। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक बलजाख की जीवनी में उन्होंने आठ वर्ष लगा दिये थे।

जर्मनी, फ्रांस, इटली और आस्ट्रिया में ज्विग समान रूप से प्रिय थे और उनके ग्रन्थों की लाखों प्रतियां छप चुकी थीं। इटली में मुसोलिनी भी उनकी रचनाओं के प्रशंसकों में थे और रूस में तो मैक्सिम गोर्की ने उनके ग्रंथों के रूसी अनुवाद की भूमिका लिखी थी। उनके किसी-किसी ग्रन्थ की पचास-पचास हजार प्रतियां एक वर्ष में बिक गई थीं। कई पुस्तकों के आधार पर नाटक तथा फिल्में बनाई गईं और कोई-कोई पुस्तक तो ढाई लाख बिकी।

ज्विग ने बड़ी विनम्रता के साथ अपनी इस सफलता का रहस्य

आत्मचरित में बतलाया है। वह लिखते हैं—

"मुझमें एक बड़ी भारी कमजोरी है, वह यह कि किसी भी अनावश्यक वाक्य या प्रसंग को पढ़कर मुझे बड़ी झुंझलाहट होती है, किसी भी अस्पष्ट बात से मेरा धैर्य छूट जाता है और कोई भी चीज जो पुस्तक के प्रवाह में बाधा डाले, मेरे लिए असह्य हो उठती है। बस मेरी यह स्वभावगत कमजोरी ही मेरी सफलता का मूल कारण है।"

ज्विग के लिखने का तरीका यह था कि पहले वह जितना भी मसाला किसी विषय पर मिल सकता, इकट्ठा करते थे और उसके लिए वह संसार का कोना-कोना छान डालते थे और फिर उसका अध्ययन करके अपनी प्रथम पाण्डुलिपि तैयार करते थे। तत्पश्चात् उनका वास्तविक कार्य प्रारम्भ होता था। अगर पहली कापी में एक हज़ार पृष्ठ होते तो अन्तिम में केवल दो सौ पृष्ठ ही रह जाते थे। शेष आठ सौ पृष्ठ वह रद्दी की टोकरी के हवाले कर देते थे और इसमें उन्हें अलौकिक आनन्द मिलता था। एक बार ज्विग बड़े प्रसन्न दीख रहे थे। उनकी पत्नी ने उनसे पूछा, "क्या बात है? मालूम होता है कि आज आपने अपनी किसी रचना की काट-छांट कर डाली है।"

ज्विग ने बड़े अभिमान के साथ उत्तर दिया, "हां, मैंने एक पैरे-का-पैरा साफ उड़ा दिया तथा घटना-प्रवाह में और भी गति ला दी।"

ज्विग संसार के नागरिक थे और उन्होंने अपनी कलम से कभी एक भी ऐसा वाक्य न लिखा था, जिससे राष्ट्रों में जातीय विद्वेष फैलता। आज के युग में समस्त लेखक-समाज के लिए उनके जीवन का एक संदेश है। क्या ही अच्छा हो, यदि उनकी समस्त रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद हो जाय!

जिस प्रकार यूरोप में कवीन्द्र रवीन्द्र के अध्ययन के लिए रवीन्द्र-समितियां हैं, उसी प्रकार क्या हम भी हिंदी-जगत् में रोमा रोलां-ज्विग-समिति की स्थापना नहीं कर सकते?

: ८ :

कुमारी मेरी रीड

"बहन, तुम और किसी भाई-बहन से या माता से एक बात मत कहना, जो मैं तुम्हें बतलाती हूं, नहीं तो उन्हें महान् दुःख होगा। वह बात यह है कि मुझे कोढ़ हो गया है। मैं अब भारतवर्ष को लौट रही हूं।"

ओहियो (संयुक्त राज्य अमरीका) में रहनेवाली मिस मेरी रीड नामक एक पैंतीस वर्षीया युवती ने यह बात अपने आठ भाई-बहनों में से केवल एक बहन से कही थी।

मां से सिर्फ उन्होंने इतना कहा, "मां, मेरी विदाई के लिए कोई खास प्रबंध न करना, क्योंकि मैं जल्दी ही लौट आऊंगी।"

सन् १८६१ से लेकर आठ अप्रैल १९४३ तक मिस रीड के जीवन के ५२ वर्ष चन्दग (अल्मोड़ा) में भारतीय कुष्ठियों की सेवा में ही व्यतीत हुए।

मिस मेरी रीड का जन्म सन् १८५५ में ओहियो में हुआ था। कुटुम्ब बड़ा आनन्दमय था, घर में आठ भाई-बहन थे। पढ़-लिखकर मेरी रीड ने अध्यापकी का काम प्रारम्भ किया और दस वर्ष तक करती रहीं। सन् १८८४ में मैथोडिस्ट मिशन की ओर से प्रचारक बनकर वह हिंदुस्तान के लिए रवाना हुईं और कानपुर के जनाना-मिशन में काम करने लगीं। कानपुर में एक बार वह बीमार पड़ीं और स्वास्थ्य-सुधार के लिए उन्हें हिमालय के पिथौरागढ़ नामक स्थान को जाना पड़ा। वहांपर उन्हें कई महीने रहना पड़ा। ये महीने उन्होंने हिंदी पढ़ने में बिताये। एक दिन वह

चन्दग के कुष्ठाश्रम को भी देखने गई थीं। उस दिन उन्हें स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि इसी कुष्ठाश्रम में उन्हें अपने जीवन के पूरे बावन वर्ष बिताने होंगे।

स्वस्थ होकर मेरी रीड कानपुर लौट आईं और चार वर्ष तक वहां काम किया। तत्पश्चात् उनकी बदली गोंडा में हो गई। वहां लड़कियों के बोर्डिंग हाउस में उन्हें संरक्षिका का काम करना पड़ा। यहां उनका स्वास्थ्य फिर खराब हो गया और जनवरी सन् १८९० में वह छुट्टी लेकर अमरीका वापस चली गईं।

अमरीका पहुंचकर उनकी तबीयत और भी खराब हो गई। डाक्टरों को दिखलाया, पर किसीकी समझ में कुछ न आया। सीधे हाथ की अंगुली में उनके कुछ खुजली शुरू हुई और गाल के ऊपर कान के पास कुछ जगह लाल-लाल-सी हो गई! डाक्टर ने आपरेशन किया, पर कुछ लाभ न हुआ। एक दिन जब मिस रीड सिनसिनाती नामक स्थान में विश्राम कर रही थीं, उन्होंने पास के एक पुस्तकालय से डाक्टरी की कुछ किताबें मंगा लीं और उनमें से कुष्ठ प्रकरण उन्होंने प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ डाले। इसके बाद अपने डाक्टर से कहा, "मुझे तो ऐसी आशंका होती है कहीं मुझे कुष्ठ तो नहीं हो रहा।" डाक्टर को इस मर्ज का पता भी नहीं था। आखिर न्यूयार्क में एक विशेषज्ञ से इसकी जांच कराई गई। उसने निश्चयात्मक रूप से बतला दिया कि हां, यह तो कोढ़ का प्रारम्भ ही है।

मिस मेरी रीड यह सुनकर घबराईं नहीं। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा, "यह रोग भी ईश्वर ने किसी-न-किसी भलाई के ख्याल से ही मेरे लिए भेजा है। मैं अब अपनी नई मातृभूमि भारत को वापस जाकर वहीं काम करूंगी। मेरा शेष जीवन अब भारतीय कोढ़ियों की सेवा में ही व्यतीत होगा।"

यह प्रतिज्ञा की थी उस अमरीकी बहन ने सन् १८९१ में और उसे निबाहा उन्होंने पूरे बावन वर्ष तक!

वह दिन चन्दग के कुष्ठाश्रम के इतिहास में और मिस मेरी रीड के जीवन में भी चिरस्मरणीय था, जिस दिन पहले-पहल उन्होंने उक्त आश्रम का कार्य अपने हाथ में लिया। आश्रम के कोढ़ी स्त्री-पुरुष इकट्ठे थे। प्रार्थना के बाद मिस रीड ने कहा—

"ईश्वर ने मुझे भी कोढ़ी बना दिया है, मानो मेरे लिए उनका यही आदेश है कि मैं खास तौर से अपने भारतीय भाई-बहनों की सेवा करूं।" यह सुनकर कितने ही स्त्री-पुरुषों की आंखों से आंसू टप-टप गिरने लगे और अपने कष्टों का ख्याल करके उनके हृदय में इस गोरी मेम के प्रति बड़ी सहानुभूति उत्पन्न हुई।

अंग्रेजी में एक कहावत है—"सुख अपने पसन्द के काम करने में नहीं है, बल्कि जो काम हमें करना पड़ता है, उसे पसन्द करने में है।"

मिस रीड को यह कहावत पसन्द थी और वह इसे बार-बार दुहराती थीं।

एक-दो नहीं, दस-बीस नहीं, पूरे बावन वर्ष तक भारतीय कुष्ठियों की सेवा—कभी कोढ़ियों के घावों की मलहम-पट्टी करतीं, कभी उनकी सेवा-शुश्रूषा करतीं, कभी उन्हें लिखना-पढ़ना सिखातीं, और कभी उन्हें धर्मोपदेश देतीं। सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के जीवन में उन्होंने आशा का संदेश पहुंचाया। सौभाग्य से उनकी खुद की बीमारी बिल्कुल रुक गई और १९०६ में अमरीका वापस जाकर उन्होंने अपनी पूज्य माता तथा भाई-बहनों के दर्शन भी किये।

एक जड़ी-बूटी के द्वारा उन्होंने कितने ही मरीजों की बीमारी को लाभ पहुंचाया था। एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "बच्चुली दस वर्ष की बड़ी सुन्दर लड़की है। हर्ष की बात है कि पिछले महीने में वह बिल्कुल अच्छी हो गई है। अब उसके शरीर में कहींपर कोढ़ का चिह्न तक नहीं है और कोई लक्षण ऐसा नहीं कि जिससे कोई यह अनुमान कर सके कि उसे कोढ़ हुआ था। मैं वही बूटी उसे और दूसरों को भी दे रही हूं,

तीन पर उसका बड़ा आश्चर्यजनक परिणाम हुआ है, जिनमें एक बच्चुला है।"

न जाने कितने बच्चुओं और बच्चुलियों के जीवन में इस महिला ने आशा का संचार किया होगा !

पूर्व और पश्चिम के बीच में जो खाई है, उसके ऊपर पुल बांधने का काम तबतक सफलतापूर्वक नहीं हो सकता जबतक कि पश्चिम के निवासी मिस मेरी रीड की भावना से ओत-प्रोत न हों, मिस मेरी रीड ने भारत को अपनी मातृभूमि के ही समान प्रेम किया। सन् १६२० में उनकी एक बहन ने अमरीका से उन्हें लिखा था—

"अब तुम हिन्दुतान में ३६ वर्ष रह चुकीं, बुढ़ापे में तो अमरीका आकर हम लोगों के बीच में रहो।"

उस समय मिस रीड ने जवाब दिया था, "नहीं, यहांपर मेरा कार्य और कर्त्तव्य समाप्त नहीं हुआ। मेरे दिल में तो बड़ी इच्छा है कि तुम सबसे, जो मुझे इतने प्रिय हैं, मिलूं, पर अब तो स्वर्ग में ही हम लोगों का मिलन होगा।"

८ अप्रैल सन् १६४३ को मिस मेरी रीड का स्वर्गवास हो गया। पर उस मूक सेविका की मृत्यु का समाचार किसी अखबार में नहीं छपा और न किसी पत्र ने उसके बारे में एक पंक्ति भी लिखी !

वह अमरीकी थीं और भारतीय भी। अपनी दोनों मातृभूमियों (अमरीका और भारत) का मुख उज्ज्वल करनेवाली महिला की स्मृति में श्रद्धा के ये चार फूल अर्पित हैं।

: ९ :

पतिव्रता जयिनी मार्क्स

[एक झलक]

जगत की सभी माताएं वन्दनीय हैं—चाहे छोटे आदमियों की हों या बड़े आदमियों की। दरअसल मातृत्व ही पूजनीय है।

जब हमने माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री से उनकी स्वर्गीय माता के चित्र और चरित्र भेजने की प्रार्थना की, तब उन्होंने लिखा था—

"भला कौन ऐसा माई का लाल होगा, जिसका हृदय अपनी माता के पुण्य स्मरण से द्रवित न हो जाय? मैं अवश्य तुम्हारे अनुरोध का पालन करूंगा, पर माताजी का चित्र कुछ धुंधला-सा हो गया है, फिर भी अपने छोटे भाई को उसके बारे में लिख रहा हूं।"

दुर्भाग्यवश शास्त्रीजी अपने संस्मरण न भेज सके, नहीं तो वे साहित्य की एक अमूल्य निधि होते। शास्त्रीजी ने दिल्ली की असेम्बली में नमक-कर के विरुद्ध बोलते हुए कहा था—

"आप लोगों में से अधिकांश नमक के महत्त्व को शायद ही समझते हों, पर मैं उसे भली-भांति जानता हूं। एक दिन किसी पड़ोसिन ने माताजी को कच्चे आम भेंट किये थे, पर वह अचार न डाल सकीं, क्योंकि उसके लिए बहुत-सा नमक चाहिए था, जिसे हम गरीबी के कारण खरीद नहीं सकते थे!"

विश्व के इने-गिने राजनीतिज्ञों में जिनकी गिनती होती थी और

जिनकी सुसंस्कृत धारा-प्रवाह अंग्रेज़ी व्याख्यान-शैली की धाक दुनिया में जम गई थी, उनकी पूज्य माताजी को निर्धनता में कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, इसकी कल्पना हम उक्त घटना से कर सकते हैं।

एक बार एक शिक्षक महोदय ने शास्त्रीजी को, जब वह छोटे दर्जे के विद्यार्थी थे, डाटते हुए कहा था—

"शास्त्री, तुम क्लास से बाहर चले जाओ। तुम्हारे कपड़े साफ नहीं हैं। तुमपर आठ आने जुर्माना किया जाता है।"

शास्त्रीजी क्लास के बाहर खड़े थे। उनके नेत्र सजल थे। वह सोचते थे—"अगर मां के पास इकन्नी होती तो वह साबुन ही न खरीद लेती। अब वह अठन्नी कहां से लायगी?"

यहां हम एक ऐसी माता का चित्र प्रस्तुत करेंगे, जिनका समूचा जीवन अभाव में व्यतीत हुआ। वह थीं पतिव्रता जयिनी मार्क्स।

जयिनी की डायरी का एक पृष्ठ लीजिये—

"इस वर्ष १८५२ की ईस्टर में हमारी बेचारी छोटी लड़की फ्रांसिस्का कंठनाली के भयंकर प्रदाह से चल बसी। तीन दिन तक बेचारी मृत्यु से संघर्ष करती रही। उसका छोटा-सा मृत शरीर पीछे के छोटे कमरे में रखा था। हम सब आगे के कमरे में चले आये। रात को हम लोग उसी कमरे के फर्श पर सोये। मेरी तीनों जीवित संतानें मेरे पास लेटीं। हमारी बच्ची की मृत्यु उस समय हुई, जब हमारी दरिद्रता का सबसे बुरा समय था। हमारे जर्मन मित्र हमारी सहायता नहीं कर सके...अन्त में आत्म-वेदना से त्रसित होकर मैं एक फ्रेंच निर्वासित के पास गई, जो समीप ही रहता था और कभी-कभी हमारे यहां आता था। मैंने उसे अपनी दारुण आवश्यकता बतलाई। उसने बड़ी हमदर्दी से तुरंत दो पौंड दिये। इसीसे हमने अपनी प्यारी बच्ची के कफन (ताबूत) के दाम चुकाये, जिसमें वह शांतिपूर्वक सुला दी गई।"

इसके कुछ दिनों बाद जयिनी का आठ वर्ष का इकलौता बेटा एडगर मन्द ज्वर से चल बसा और उस मृत्यु ने जयिनी को पागल-सा

बना दिया। इन वज्रपात के बीस वर्ष बाद की एक चिट्ठी में जयिनी ने लिखा था—

"मैं इस बात को खूब अच्छी तरह जानती हूं कि इस प्रकार के भयंकर वज्रपातों को सहन करना कितना कठिन है और फिर इनके बाद अपने मस्तिष्क को ठीक-ठिकाने लाने में कितनी देर लग जाती है...यह तो मैं नहीं कहूंगी कि घाव भर जाता है, घाव तो कभी नहीं भरता—खास तौर से मां के हृदय का घाव तो कभी नहीं पुरता।"

मार्क्स के चौथे बच्चे हैनरी की मृत्यु के विषय में उनके जीवन-चरित-लेखक ने लिखा है—

"यह पहला ही अवसर था, जब मृत्यु ने मार्क्स के क्षुद्र घर में प्रवेश किया था। माता-पिता को यह चोट और भी गहरी लगी, क्योंकि वह जानते थे कि उनके नन्हे बच्चे की, जिसने क्षुधापीड़ित माता के स्तनों का रक्त पिया था, हत्या वास्तव में दरिद्रता ने की थी।"

मार्क्स ने अपने एक पत्र में लिखा था—

"मेरी स्त्री मुझसे प्रतिदिन यही कहा करती है कि इस दुर्दशा से यही अच्छा होता कि मैं अपने बच्चों के साथ कब्र में चली गई होता। पर मैं अपनी पत्नी को दोष नहीं देता, क्योंकि जैसी अपमानजनक स्थिति में हमें रहना पड़ता है, जो अत्याचार और कष्ट हमें सहने पड़ते हैं, जिस प्रकार पग-पग पर हमें जलील होना पड़ता है, उसका बयान नहीं किया जा सकता।"

अब जयिनी का एक पत्र पढ़ लीजिये, जो उसने अपनी किसी बहन को लिखा था—

"बहन, यह खयाल मत करना कि इन छोटे-छोटे कष्टों के कारण मैं हिम्मत हार बैठी हूं। मुझे यह अच्छी तरह मालूम है कि मैं अकेली ही तकलीफ में नहीं हूं। दुनिया में लाखों आदमी मुझसे कहीं अधिक कष्ट पा रहे हैं, पर एक बात है जिसके बोझ से अंतरात्मा दबी जा रही है और जिससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है—वह यह कि मेरे पति का

इतनी अधिक चिंता करनी पड़ती है और इतनी तकलीफ उठानी पड़ती हैं। अत्यंत भयंकर दुःखमय स्थिति में भी वह आत्म-विश्वास नहीं खोते, भविष्य के लिए आशा रखते हैं, हमेशा हँसमुख बने रहते हैं और हँसी-मज़ाक करते रहते हैं।"

आज यदि दुनिया के लाखों-करोड़ों निर्धन लोग—चाहे वे रूस में रहते हों, या चीन में अथवा अन्य किसी देश में—अपना जीवन कुछ कम संघर्षमय पाते हैं तो उन्हें इस साधक दंपती मार्क्स जयिनी (जयिनी मार्क्स अधिक उपयुक्त होगा) की वंदना करनी चाहिए। उस क्षुधापीड़ित माता की स्मृति में, जिसे अपने स्तनों का रक्त बच्चों को पिलाना पड़ता था और उनके मरने पर कफन भी जिसे मयस्सर न था, हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

: १० :

सेवा-उपवन

बात सन् १८७४ की है। आयरलैण्ड के डबलिन नगर में तीन आयरिश कन्याएं रहती थीं। ये मिस्टर पिम की सुपुत्री थीं। एक दिन उन्हें खबर लगी कि मिस्टर बेली नामक कोई पादरी हिन्दुस्तान से लौटे हैं। उन बहनों ने पादरीसाहब को अपने घर पर न्योता दिया और उनके अनुभव पूछे। मि० बेली ने, जो अम्बाला में रहते थे और छुट्टी पर घर गये हुए थे, अपने कार्य के विषय में निवेदन किया। उन्होंने बतलाया कि अम्बाला में उनके बंगले से पचास-साठ गज़ की दूरी पर कुछ झोंपड़ियां हैं, जहां कुष्ठी लोग रहते हैं, जिनकी दशा अत्यन्त दयनीय है। उन आइरिश बहनों का हृदय भारतीय कुष्ठियों की दुर्दशा से द्रवित हो गया, और एक बहन मिस शारलोट पिम ने कहा, "ज्यादा तो नहीं, पर हम बहनें सालभर में तीस पौण्ड इकट्ठे करके आपको भेज दिया करेंगी।" मिस पिम बड़े संकोचशील स्वभाव की थीं, और उन्हें तीस पौण्ड इकट्ठा करना भी कठिन प्रतीत होता था, फिर भी उन्होंने तन-मन से प्रयत्न किया और साल-भर के अन्त में उन्होंने भेजे ५०० पौण्ड।

उस समय जो सेवा-रूपी बीज इन बहनों ने बोया था, वह आज एक हरे-भरे उपवन के रूप में विद्यमान है। यही लेपर-मिशन की जन्म की कथा है। अकेले भारतवर्ष में लेपर-मिशन के अधीन अनेक कुष्ठाश्रम हैं, जिनके निवासियों की संख्या कई हज़ार है, और इनके अलावा सैकड़ों बालक-बालिकाएं हैं, जिन्हें इस भयंकर रोग से बचा लिया गया है। सन्

१९३५ में इन आश्रमों पर ७,९६,९१२ रुपये व्यय किया गया था।

न तो भारत के किसी इतिहास में कहीं कुमारी पिम बहनों का ज़िक्र है और न इंग्लैंड की तवारीख में उनका हाल कहीं मिल सकता है, पर दरअसल सन् १८७४ की एक महत्त्वपूर्ण घटना इन बहनों की उपर्युक्त उदारता ही थी। जब पाशविक बल पर स्थित हृदयहीन राज्यों अथवा साम्राज्यों का नामोनिशान भी इस संसार में न रहेगा और जब शुष्क इतिहासों को लोग बिल्कुल भूल जायंगे, उस समय भी दो भिन्न-भिन्न जातियों के बीच में सेवा और सौहार्द का सम्बन्ध स्थापित करनेवाली इन बहनों का नाम आदर के साथ लिया जायगा।

आइये, उनके द्वारा स्थापित सेवा-उपवन को देखें। यह सन् १९३७ की बात है। पहले चलिये अल्मोड़ा जिले के चन्दग नामक स्थान पर। मिस मेरी रीड, जिनका हाल आप इस पुस्तक में अन्यत्र पढ़ेंगे, यहीं रहती हैं। ये बूढ़ी दादी ८१ वर्ष की हैं, और ४५ वर्ष की अनवरत सेवाओं के बाद भी उनका उत्साह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। बिना असाधारण लगन और उच्चकोटि की आदर्शवादिता के यह कार्य सम्भव नहीं। मिस मेरी रीड से थोड़ी देर बातचीत भी कर लीजिये। इनसे उस बूढ़े कुष्ठी गंगाराम का हाल तो पूछिये, जो ४० वर्ष से यहां रहता है और कई अंगों के गल जाने पर भी जिसका जीवन आनन्दमय है। इस बुड्ढे के जीवन से कितनों ही को स्फूर्ति मिली है। मिस रीड अमरीकी महिला हैं और अब भारत को ही अपनी मातृभूमि मानती हैं। घंटे-भर उनके 'सनी क्रैस्ट काटेज' में विश्राम कीजिये और मनोहर प्राकृतिक सौन्दर्य का दिग्दर्शन।

चन्दग से पुरुलिया (बिहार) चलें। यहीं श्रीयुत ए० डी० मिलर रहते हैं। यदि वह अपना व्यापार-क्षेत्र छोड़कर यहां न आते तो आज लखपती होते, पर लक्षाधीश बनने की अपेक्षा उन्होंने पीड़ित भारतीयों का एक विनम्र सेवक बनना कहीं अच्छा समझा। मि० मिलर बंगला मज़े में बोल लेते हैं और पढ़ भी लेते हैं। आश्रम के प्रबन्धक रेवरेण्ड

ई० बी० शार्पसाहब से भी मुलाकात कर लीजिये। देखिये, वह क्या कहते हैं—"तीन वर्षों से हमारे यहां स्थान की बड़ी कमी रही है और नित्यप्रति हमें किसी-न-किसी कुष्ठी की प्रार्थना को अस्वीकृत करना पड़ता है। मन में हम यह समझते हैं कि साधन मिलने पर हम अपने इस पीडित भाई की सहायता कर सकते हैं, पर करें तो क्या करें ? भारतवर्ष का यह सबसे बड़ा कुष्ठाश्रम है। यहां ८०० रोगी रहते हैं और ८१ स्वस्थ बच्चों का प्रबन्ध अलग है। २१२ रोगी तो गत वर्ष ही भर्ती किये गए थे। बाहर से कई सौ रोगी प्रति मास इलाज के लिए आया करते हैं। स्थान की कमी के कारण जब हमें किसी रोगी को निराश वापस भेजना पड़ता है, तो हमारी अन्तरात्मा को बड़ा दुःख होता है।"

वह देखिये, धान के खेतों में करीब २०० स्त्री-पुरुष काम कर रहे हैं। किसीकी ज़ोर-जबरदस्ती से नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्वक इन्होंने यह काम अपने हाथ में लिया है। पाखानों का इन्तज़ाम भी इन लोगों ने अपने लिए स्वयं ही किया है।

उस छोटी-सी कुटिया को, जो बच्चों के लिए बन रही है, देख लीजिये। रेवरेण्ड शार्पसाहब से पूछिये—"इसे कौन बनवा रहा है ?" उत्तर—विलायत का कोई अज्ञात दानी ! इस प्रान्त के गवर्नर साहब में इतनी सहृदयता है कि उन्होंने अपने खर्च से लड़कियों के लिए एक भोजनशाला बनवा दी है। इस आश्रम के प्रबन्धक शार्पसाहब इस जगह पन्द्रह वर्ष से काम कर रहे हैं। वह कहते हैं, "आश्रम के रोगी निवासियों ने जिस श्रद्धा और लगन के साथ इस संस्था की उन्नति में सहयोग दिया है, उसे देखकर बड़ी स्फूर्ति मिलती है। साथ ही इन लोगों की यह सहायता हमारे लिए एक खासी फटकार भी है। ये रोगी तो अपनी वर्तमान भयंकर परिस्थिति में अपना कर्तव्य पालन करते हैं। पर क्या हम स्वस्थ लोग, जिन्हें सब प्रकार के साधन प्राप्त हैं, ऐसा करते हैं ?"

देखिये, वह बच्चा डेगच हाथ डाले हुए है। शायद उसने चावल धोके तैयार किये हैं। इसका नाम कंगालसिंह है। जब यह दो वर्ष का

था तभी इसके चेहरे पर कुष्ठ के चिह्न प्रतीत होते थे। ४६ इंजेक्शन देने, स्वास्थ्यप्रद भोजन खिलाने और उचित सावधानी रखने से इसके कुष्ठ-चिह्न जाते रहे और अब यह स्वस्थ-भवन में रख दिया गया है। खैरियत यह हुई कि बीमारी के लक्षणों के शुरू होते ही कंगालसिंह यहां आ गया ; पर इसकी बड़ी बहन देर करके आई, यानी जब वह १७ वर्ष की थी। रोग तबतक अपना डेरा जमा चुका था। अब बहन का गला इस बीमारी ने धर दबाया है और उसके नेत्रों की ज्योति भी मन्द हो चली है। अब क्या हो सकता है ! अगर यह ८-१० वर्ष पहले आ गई होती, तो बच जाती। इसके दो और भाई भी इसी बीमारी से पाड़ित होकर यहां आ गये हैं। उन चारों भाई-बहनों को यह बीमारी अपने नाना के संसर्ग से हो गई !

मि० मिलर आपको बतलावेंगे कि मिशन इस समय १३६० बच्चों की रक्षा कर रहा है, जिनमें ८०० तो स्वस्थ हैं और करीब ५०० को यह बीमारी है।

ज़रा बच्चों को भी देख लीजिये। कहीं वे स्नान कर रहे हैं, तो कहीं कलेवा का इन्तजार और कहीं बैठे-बैठे मजे के साथ भोजन कर रहे हैं ! इन्होंने परिश्रम करके मिट्टी का अपना प्रार्थना-गृह भी बना लिया है !

पुरुलिया छोड़कर अब सल्दोहा पधारिये। सामने जो मकान दीख पड़ता है, उसे रोगियों ने, जिनमें कुछ मिस्त्री हैं, स्वयं ही बनाया है। यहां एक दर्शनीय व्यक्ति है, जिसका नाम है मंसा। यह आश्रम के प्रारम्भ से ही यहांपर रहता है। जब यह १०-११ वर्ष का था, तब इसकी बीमारी इतनी बढ़ी हुई नहीं थी। उस समय यह अपने अन्य भाइयों को, जो उम्र में इससे कहीं ज्यादा बड़े थे, पढ़ाया करता था। मंसा का इलाज होता रहा, पर जहां अन्य रोगियों को लाभ हुआ, मंसा की बीमारी बराबर बढ़ती ही गई ! स्कूल का काम उसे छोड़ देना पड़ा। तब वह सिर्फ संध्या की प्रार्थना कराया करता था ; लेकिन अब बेचारे की आंखें

भी जाती रही हैं और गला भी बीमारी के कारण बैठ गया है, इसलिए गाने में भी शामिल नहीं हो सकता। पर इससे क्या ? अबकी उसके चेहरे पर मुस्कराहट है। मंसा से पूछिये, "कहो भई ! तबीयत कैसी है ?" जवाब देगा, "अच्छी तरह हूं !" रेवरेण्ड वो० बैगरसाहब इस आश्रम के अधिष्ठाता हैं। उन्हें नमस्कार करके आगे चलिये।

यह लीजिये, अब हम बेलगांव आ गये। सामने श्रीयुत डब्ल्यू० सी० इरविनसाहब आ रहे हैं। सुनिये, क्या कहते हैं, "हर सप्ताह एक न एक आदमी हमें वापस भेजना पड़ता है। पिछले वर्ष हमें पचास आदमियों की प्रार्थना अस्वीकृत करनी पड़ी थी। खास तौर से दुःख हमें इस बात का है कि एक विधवा अपने चार बच्चों के साथ आई थी (ये पांचों कुष्ठ रोग से पीड़ित थे) और स्थानाभाव के कारण हमें उसे 'ना' कहनी पड़ी। बड़ा हृदयवेधक दृश्य था ; पर आश्रम ठसाठस भरा हुआ था, करते तो हम क्या करते ? यहांपर इस आश्रम में एक १८ वर्ष का युवक रहता था, जो कुष्ठ रोग से पीड़ित था, उसका १५ वर्ष का छोटा भाई भर्ती होने के लिए आया। हमारे यहां अन्य रोगियों के प्रार्थना-पत्र पहले स्वीकृत हो चुके थे और हम वचन दे चुके थे कि स्थान खाली होते ही हम उन्हें भर्ती कर लेंगे। ऐसी हालत में इस छोटे भाई को हम तभी भर्ती कर सकते थे, जब हम अपने वचन को तोड़ देते और एक आदमी के प्रति अन्याय करते। यह हमने अनुचित समझा। नतीजा यह हुआ कि हमें छोटे भाई की अर्जी नामंजूर कर देनी पड़ी। बेचारा बड़ा भाई दिन-भर रोता रहा। अंत में उसने निश्चय किया कि मैं खुद अपनी जगह छोटे भाई के लिए खाली कर दूंगा। यही उसने किया। छोटे भाई को अपने स्थान पर रखकर उसने आश्रम से विदाई ली ! हम सबको इस करुणोत्पादक विदाई पर घोर दुःख था, पर लाचारी थी।"

बम्बई प्रांत में सैकड़ों-हजारों ही लखपती हैं। क्या उनमें इतनी सहृदयता है कि वे कल्पना द्वारा अपनेको उस बड़े भाई की स्थिति में रख सकें ?

आइये, अब मध्य प्रदेश की यात्रा कीजिये। यहां भी स्थान की कमी है। चम्पा के डा० पैनर की बात सुन लीजिये, "इस आश्रम में मैं दिन में दो बार आया करता हूं। हर बार एक-न-एक रोगी मुझे मिलता है, जो भर्ती होने के लिए अत्यन्त करुणाजनक स्वर से प्रार्थना करता है। आस-पास के गांववालों ने एक चालाकी से काम लेना शुरू किया है, वह यह कि वे रात के समय किसी कुष्ठी को पेड़ के नीचे छोड़ जाते हैं और यह आशा रखते है कि आश्रम इन्हें भूखों नहीं मरने देगा! इन लोगों की दुर्दशा अवर्णनीय है।"

हम लोग चम्पा में बहुत ही अच्छे मौके पर आये हैं। आज लेपर-मिशन के सैक्रेटरी मि० एण्डरसन सपत्नीक यहां पधारे है। इस अवसर पर डाक्टर पैनर ने उन सबको न्यौता दिया है, जो इस आश्रम से स्वस्थ होकर निकलकर गये हैं। आज इस आश्रम के पुराने छात्रों तथा छात्राओं का पुर्नमिलन होगा! कोई-कोई तो चारसौ मील से आये हैं! देखिये, बड़ी-बड़ी डेगचियों में चावल बन रहे हैं और लम्बे-चौड़े कड़ाहों में कढ़ी तैयार हो रही है। छोटे-छोटे बच्चे इधर-उधर कूदते-फिरते है। वह नव-दम्पति वहां खड़े-खड़े मुस्करा रहे हैं। स्त्रियां अपनी रंग-बिरंगी सर्वोत्तम साड़ियां पहने हुए हैं। वर्षों के बिछुड़े हुए भाई-बहन मिल रहे हैं। अपने छोटे-छोटे बच्चों को एक-दूसरे को दिखला रहे है। श्रीमती पैनर और डा० पैनर उनके बीच में माता-पिता की तरह घूम रहे हैं। उनके हृदय की प्रसन्नता मुख पर झलक रही है। एक सौ चालीस अतिथि हैं।

आज से कितने ही वर्ष पहले की बात है, जब डाक्टर पैनर ने केवल दो कुष्ठी रोगियों के साथ इस आश्रम की स्थापना की थी। जिस दम्पति की सेवा तथा त्याग से हमारे सैकड़ों भाई-बहनों के जीवन में आशा का संचार हुआ है, उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके हम आगे बढ़ें, क्योंकि अभी हमें बहुत दूर जाना है।

अब हम चान्दकुरी आ गये। यहां कई बातें हमें बड़ी आशाजनक

प्रतीत हुईं। पहली तो यह कि एक ब्राह्मण सज्जन ने अपनी भूमि का एक टुकड़ा कुआं खोदने के लिए आश्रम को दे दिया है, जिससे यहां का जल-कष्ट दूर हो गया है। इस सच्चे ब्राह्मणत्व के लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। दूसरी चीज़ यहां की गोशाला हैं। यहां के पशु स्वस्थ और दूध बहुत अच्छा होता है; पर इन सबसे अधिक दर्शनीय है मरियम नाम की स्त्री, जो स्वयं इस रोग से कुछ पीड़ित है, पर उसके सेवा-भाव को देखकर आश्चर्य होता है। पचास व्यक्तियों के लिए यह नित्यप्रति भोजन बनाती है। प्रेम के साथ भोजन तैयार करना और स्नेह के साथ परोसना किसे कहते हैं, यह कोई मरियम से सीख जाय। मरियम को इस बात का पूरा-पूरा पता रहता है कि किस रोगी को, रोग की परिस्थिति के कारण, क्या भोजन मिलना चाहिए, और वह बिना चूके वही भोजन उसे तैयार करके देती है; क्या मजाल कि उससे कोई भूल हो जाय !

दस मिनट के लिए मिस ए० एम० वैगनर से भी बातचीत कर लीजिये। आप १२७ बच्चों की निरीक्षक—या यों कहिये कि पालक-पोषक हैं। ये आपको बतलायंगी कि बच्चे कितने प्रसन्न रहते हैं और सवेरे जब वे दूध-दलिया खाते हैं, उस समय उनके प्रफुल्लित चेहरों को देखिये।

लीजिये, यह धमतरी (शान्तिपुर) है। यहांवालों ने एक बड़ी उपयोगी योजना बनाई है, जिससे उन रोगियों को, जिनकी बीमारी रुक गई है, और स्वस्थ बालक-बालिकाओं को भी कृषि-कार्य के लिए थोड़ी-सी जमीन देकर बसाया जा सकेगा। मध्य प्रदेश-सरकार ने १६०० एकड़ भूमि देने का वचन दिया है।

यह रहा चम्बा (पंजाब)। यहांपर डाक्टर हचीसन ने साठ वर्ष तक काम किया था। सन् १८७६ में मि० बेलीसाहब ने आपको यह कार्य सौंपा था, तबसे आप उसे निरंतर करते रहे। अठासी वर्ष के इस बूढ़े का उत्साह प्रशंसनीय था। जब डा० हचीसन का मृत्यु-समय निकट

आया, तो उन्होंने अपने साथी-संगियों को बुलाकर कहा, "अपनी स्मृति कायम रखने के लिए बस एक ही मेरी इच्छा है, वह यह कि कुष्ठियों की सेवा का यह कार्य जारी रहे।" साठ वर्ष की सेवा! भला, इस ऋण से हम कैसे उऋण हो सकते हैं?

स्थान तो बहुत-से देखने को हैं; पर अभी इतना समय नहीं। यदि समय होता, तो हम आपको रावलपिंडी के आश्रम में कताई का काम दिखलाते, नैनी के आश्रम की गोशाला के दर्शन कराते और मि० पितले से आपका परिचय कराते, जिन्होंने स्वयं इस रोग से पीड़ित होने पर भी रोगियों के लिए महान कार्य किया है।

एक बात ध्यान देने योग्य है। इन आश्रम के निवासियों को बागवानी का शौक है, और कहीं उन्होंने सुन्दर पुष्पों के पौधे उगा रखे हैं और कहीं तरकारियां लगा रखी हैं।

बांकुड़े के आश्रम में आपको सुन्दर पुष्पों तथा तरकारियों का बगीचा दीख पड़ेगा, और रानीगंज का आश्रम तो मानो एक उपवन ही है। भागलपुर में मिस क्रौघ फूल उगा रही हैं, और मुजफ्फरपुर के आश्रमवासियों को कृषि और बागवानी का शौक है। पुई (बम्बई प्रांत) में आपको सुन्दर बगीचा दीख पड़ेगा और पूना के निकट खोण्डवा में, जहां आज सूखी जमीन दीख पड़ती है, कल फूल-ही-फूल नजर आयंगे। नैनी (इलाहाबाद) का तो कहना ही क्या है! जहां कृषि-विद्या-विशेषज्ञ डा० एस० हिगिनबाटम रहते हों, वहां तो आश्चर्यजनक उन्नति होनी ही चाहिए। इस आश्रम में दूध भी खूब बढ़िया होता है और तरकारियों तथा फलों की भी भरमार है।

जो महत्त्वपूर्ण कार्य लेपर-मिशन द्वारा हो रहा है, उसका एक अंश हमने अपने चर्म-चक्षुओं से देख लिया, पर इस कार्य के पीछे जो सेवा-पूर्ण भावना है, उसका अनुभव हम ज्ञान-चक्षुओं द्वारा ही कर सकते हैं।

महात्मा गांधी ने लिखा था—

"जब गुलाब खिलता है तो दुनिया में अपने खिलने का ढिंढोरा थोड़े

ही पीटता है। उसकी सुगन्ध ही उसके माधुर्य का पर्याप्त प्रमाण है। इसी प्रकार एक सच्चे ईसाई का जीवन भी गुलाब की तरह चुपचाप विकसित होता है, और ऐसा जीवन ही ईसा के सत्प्रभाव का सबसे अधिक सच्चा प्रमाण है।"

मुझे मालूम नहीं कि बीसियों सच्चे कार्यकर्ताओं की सेवा से बने हुए इस सुगन्धमय उपवन की सैर करनेवाले आप कौन हैं ?

क्या आप कोई सम्भ्रान्त महिला हैं ?

तब मैं आपसे कहूंगा कि इस महान उपवन की स्थापना में महिलाओं का जबरदस्त हाथ रहा है। आइरिश पिम कुमारियों का वृत्तान्त आप पढ़ चुकी हैं और अमरीकी मिस मेरी रीड से भी आप परिचित हैं। नासिक की अंगरेज़ महिला मिस हारवे का जीवन-चरित भी कभी आपको सुनाऊंगा। उन्होंने अपने जीवन के ३५ वर्ष (१८९७ से १९३२ तक) इन्हीं भाई-बहनों की सेवा में बिताये थे। सत्तर वर्ष की उम्र में इनका देहान्त हुआ। इन्हें सब आश्रमवासी आई (माता) कहते थे, और यही इनका सबसे बड़ा पुरस्कार था। स्काटलैण्ड की डाक्टरनी ईसाबेल ने अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष दीचपाली (दक्षिण-हैदराबाद) में बिताये थे। रामचन्द्रपुरम (पूर्व गोदावरी) में एक अस्सी वर्ष की बुढ़िया को इन दीन-हीन पीड़ित भाई-बहनों की सेवा करते हुए देखा जा सकता था। वह कनाडा की निवासिनी थीं। इस प्रकार आइरिश, अमरीकी, अंगरेज और कनेडियन महिलाओं के त्याग और बलिदान से हमारे समाज के अत्यन्त दीन-हीन भाग की भारी सेवा हुई है। भारतवर्ष में हजारों ही बहनें कुष्ठ रोग से पीड़ित हैं। क्या उनके प्रति आप अपना कर्तव्य पालन करेंगी ?

क्या आप कोई लेखक हैं ?

तब मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप कभी इन आश्रमों में से किसी एक की तीर्थ-यात्रा कीजिये और अपनी आंखों से उस महत्त्वपूर्ण कार्य को देखिये और अपनी लेखनी का प्रयोग इन निस्सहाय देश-भाइयों के

लिए भी कीजिये। एक रूसी लेखक के निम्नलिखित वाक्य को न भूलिये—

"क्या तुम लेखक बनना चाहते हो ? यदि हां, तो अपनी जाति के पुराने जमाने से संचित दुःख-समूह का इतिहास पढ़ो। अगर उसे पढ़ते हुए तुम्हारा हृदय विदीर्ण न हो, तो अपनी लेखनी फेंक दो। बस, फिर सब कोई तुम्हारे पाषाण-हृदय की खेदजनक शुष्कता को पहचान लेंगे।"

यदि लिखनेवाले के पास एक कोमल हृदय हो, तो प्रत्येक कुष्ठी का जीवन उसे एक अमर कहानी अथवा हृदय-वेधक निबन्ध का मसाला दे सकता है।

यदि आप कोई राजनैतिक कार्यकर्ता हैं, तो मुझे सिर्फ इतना ही कहना है कि जहां आप राजनैतिक क्षेत्र में भारत के अभ्युदय का कार्य कर रहे हैं, वहां इन लोगों को भी न भूलिये। राजनैतिक कार्य और समाज-सेवा दोनों साथ-साथ चल सकते हैं और चलने चाहिए।

: ११ :

मेरी तीर्थ-यात्रा

कोई चालीस वर्ष पहले की बात है। जर्मन पादरी रेवरेण्ड हेनरी उफमैन दिन-भर अपना काम करके विश्राम कर रहे थे कि इतने में डाकिये ने विलायती डाक लाकर दी। अपनी मातृभूमि से आनेवाली डाक की प्रतीक्षा विदेश में अत्यन्त उत्कंठा के साथ की जाती है। पादरी-साहब ने बर्लिन की मुहरवाली चिट्ठी बड़ी उत्सुकता के साथ खोली। चिट्ठी पर ऊपर लिखा हुआ था 'ऐलिजबेथ हास्पिटल, बर्लिन।' भीतर पादरीसाहब की आठ-दस वर्ष की प्रिय पुत्री मेरी के कई बड़े-बड़े चित्र थे। मेरी शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने पिता के, जो पुरुलिया में रहते थे, पास से कैसरवर्थ जर्मनी में गई हुई थी। चिट्ठी में लिखा हुआ था—"आप यह सुनकर दुःखित होंगे कि मेरी जबसे आई है, बीमार रहती है। उसके शरीर पर कुछ चिट्टे-से पड़ रहे हैं, और कुछ दूसरे लक्षण भी प्रकट हो रहे हैं, जिनका निदान यहां के डाक्टर लोग ठीक तरह से नहीं कर सकते। शायद वहां हिन्दुस्तान में इसका निर्णय हो सके, इसलिए उसके चित्र भेजे जाते हैं।"

चिट्ठी पढ़ते ही पादरीसाहब को बड़ी चिंता हुई और वह तुरन्त कलकत्ता को रवाना हुए। वहां उन्होंने वे चित्र डाक्टरों को दिखलाये और पत्र का सारा हाल भी सुनाया। डाक्टरों ने कहा, "आपकी लड़की को कुष्ठ रोग हो गया है।" कुष्ठ! सुनते ही रेवरेण्ड उफमैन की चिन्ता और भी अधिक बढ़ गई, पर वह अपने कार्य पर डटे रहे। थोड़े दिनों

बाद अपनी मेरी की मृत्यु का हृदयबेधक समाचार उन्हें पत्र द्वारा मिला। पादरीसाहब ने सोचा कि जो दुःख मुझपर आ पड़ा है, उसीसे लाखों माता-पिता पीड़ित हैं। तबसे उन्होंने निश्चय कर लिया कि वह भारत के कोढ़ियों की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करेंगे। जो सद्भाव बीजरूप में उनके हृदय में उदित हुआ था, वही आज हरे-भरे उपवन के रूप में पुरुलिया में विद्यमान है। भारतवर्ष का, भारतवर्ष का ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे बड़ा कुष्ठाश्रम आज पुरुलिया में ही है। जिसके हृदय में श्रद्धा-भक्ति, तथा मानव-समाज-प्रेम का कुछ भी अंश विद्यमान हो, पुरुलिया का आश्रम उसके लिए तीर्थ-स्थान है। महात्मा गांधी ने भी वहां की यात्रा की थी और उसके विषय में लिखा था—"इस आश्रम के निवासियों के प्रसन्न मुखमंडल को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर के नाम पर की गई प्रेमपूर्ण सेवा से क्या-क्या कार्य हो सकते हैं।"

इस स्थान की तीर्थ-यात्रा करने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त हुआ था। नगर के बाहर सुन्दर रमणीक स्थान पर, जहां की शोभा एक विशाल सरोवर तथा वृक्ष-समूह ने चौगुनी कर दी है, यह आश्रम बसा हुआ है। पहले इस जगह पर जंगल था और सुना जाता है कि वहां वन्य-पशुओं तथा कीड़े-मकोड़ों का साम्राज्य था। आश्रम ने जंगल में मंगल उपस्थित कर दिया।

जिन्होंने कलकत्ता की सड़कों पर पड़े हुए कोढ़ियों को देखा है, उनमें और पुरुलिया-आश्रम के निवासियों में ज़मीन-आसमान का फर्क है। आइये, हमारे साथ आप इस आश्रम का निरीक्षण कीजिये। पहले अखिल भारतवर्षीय आश्रमों के सेक्रेटरी मि० मिलर[1] से ही मिलिये, क्योंकि उनसे मिलकर आप उस भावना को समझ सकेंगे, जो इस महान् कार्य के मूल में काम कर रही है। बहुत वर्ष पहले वह भारतवर्ष में आये

[1] अब वह अवकाश प्राप्त कर चुके हैं।

थे। आने के कुछ दिन पूर्व उनसे एक व्यापारी ने यह प्रस्ताव किया था कि आप हमारे साझीदार बन जाइये, मुनाफे को हम लोग बांट लेंगे ; पर उन्होंने व्यापारियों के मुनाफे के साझीदार बनने की अपेक्षा भारत के दीन-हीन कुष्ठियों के दुःखों का साझीदार बनना उत्तमतर समझा। मि० मिलर में धुन है, लगन है, विनम्रता है, और विज्ञापन से वह दूर भागते है। सच्चे मिशनरी में जो गुण होने चाहिए, वे उनमें विद्यमान हैं। मि० मिलर उन उद्धत गोरों में से नहीं हैं, जिन्हें अपनी सफेद चमड़ी पर अभिमान होता है, और जो काले चमड़ेवालों को हिकारत की नजर से देखते हैं। बंगला उन्होंने सीख ली है, अपने नौकरों के साथ वह बंगला में ही प्रार्थना करते हैं। आश्रम के अधिकांश निवासी बंगला ही बोलते हैं और मिलरसाहब बड़ी आसानी के साथ उनसे विचार-परिवर्तन कर सकते हैं। मिलरसाहब ने कहा—"हम यह बात स्पष्टतया खुल्लमखुल्ला कहते हैं कि प्रभु ईसा के धर्म के प्रति श्रद्धा हमारे इस कार्य का मूल है, और कुष्ठियों तथा उनके बच्चों को आध्यात्मिक शिक्षा देना तथा उनको शारीरिक आराम पहुंचाना हमारा मुख्य उद्देश्य है। हम इस सत्य को छिपाकर असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहते।"

इसका जवाब हमने यही दिया, "कुष्ठियों के लिए जो कोई भी काम करता है, चाहे वह हिन्दू हो, या मुसलमान, अथवा ईसाई, वह हमारी श्रद्धा का पात्र है। कोई भी भला आदमी आपको अपने ढंग पर आध्यात्मिक शिक्षा देने से नहीं रोकेगा। जो आदमी घूरे पर पड़े हुए गन्दे लत्तों को उठाकर, उनको साफ करके, उनसे एक सुन्दर वस्त्र बनाकर, उसपर मनोहर पुष्प काढ़ सकता है, वह सच्चा कलाकार है। भारतवर्ष सदा से ही धार्मिक सहिष्णुता का पक्षपाती रहा है, और मैं तो उस समय की कल्पना भी नहीं कर सकता, जब कोई समझदार भारत-वासी इस बात पर एतराज करेगा कि आप इन्हें ईसाई-धर्म की शिक्षा क्यों देते हैं ?"

मि० मिलरसाहब में अपने धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा है और उनके लिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि वह उसके प्रचार के लिए उत्सुक हों।

मि० मिलर ने अपने साथ चलकर मुझे आश्रम के भिन्न-भिन्न विभाग दिखलाये। प्रयोगशाला तथा अस्पताल का भी निरीक्षण कराया। स्त्रियों के तथा पुरुषों के निवास-स्थान अलग-अलग हैं। स्वस्थ बच्चे अलग रखे जाते हैं। जिन बच्चों के विषय में शक होता है, उन्हें भी जांच के लिए अलग रखते हैं। कोढ़ियों की स्वस्थ संतानों के लिए अलग ग्राम बसा दिया गया है, और वहां वे कुष्ठी भी, जो कुष्ठ के लक्षणों से विमुक्त होते हैं, बसा दिये जाते हैं। बच्चों के लिए स्कूली पढ़ाई का तथा बढ़ईगीरी इत्यादि सीखने का भी प्रबन्ध है। लड़कियां कपड़े बुनती हैं, तथा अन्य गृह-कार्य सीखती हैं। कितने ही आदमी खेती का भी काम करते हैं। कोढ़ियों के स्वस्थ बच्चे नर्स वगैरह का काम सीखकर यहीं सेवा-कार्य में लग जाते है। बड़ी उत्तम व्यवस्था के साथ सारे कार्य का संचालन होता है। एक कुष्ठी जूते गांठकर अपने भाइयों की सेवा करता है। केन्द्र-स्थान में गिरजाघर भी है, जहां ये लोग प्रार्थना करते हैं।

संचालक लोग इस बात का प्रयत्न करते हैं कि आश्रम के निवासियों के हृदय से भिखारीपन के भाव दूर हों, तथा उनमें स्वाभिमान के भाव जाग्रत हों। वास्तव में मिशन का यह कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। दान देना कुछ मुश्किल नहीं है, पर इस प्रकार से दान देना, जिससे दानपात्र नीचे गिरने के बजाय ऊपर उठे, अत्यन्त कठिन है।

संचालकों ने यह प्रबन्ध किया है कि वे प्रत्येक निवासी को चावल और कुछ आने प्रति सप्ताह के हिसाब से दे देते हैं। इन पैसों से वे चाहे जो चीज खरीद सकते हैं, यथा—दाल, नमक, तेल इत्यादि। इन पैसों का वे बजट भी बनाते हैं, और यदि दानशीलता का हिसाब उनकी सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति के अनुपात से लगाया जाय, तो उनमें अनेक आश्रमवासी कितने ही दानवीरों से भी अधिक दानी सिद्ध होंगे। पिछले

उत्सव पर उन्होंने आपस में २६२) इकट्ठे करके दान दिये थे ! इस प्रसंग पर हमें रेवरेण्ड उफमैन-सम्बन्धी एक घटना याद आती है। जब उफमैनसाहब बीमार पड़ गये थे, तो वहां के कुष्ठियों ने जो सहृदयता दिखलाई थी, उसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने लिखा है—

"उफमैन की बीमारी इतनी अधिक बढ़ गई थी कि पन्द्रह दिन तक तो उनका जीवन अत्यंत संकट में रहा। कभी यह डर होता था कि वह अब बचने के नहीं, और कभी फिर आशा बंधने लगती थी। नित्यप्रति कुष्ठी लोग उनके स्वास्थ्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे, और कई तो लंगड़ाते-लंगड़ाते आश्रम से उनके घर तक उनकी कुशल पूछने के लिये आते थे। जिस दिन मि० उफमैन की तबीयत सुधरी, और वह अपने घरवालों के साथ पथ्य खाने के लिए बैठे, उस दिन उन्होंने अपने संरक्षक के हाथ एक चिट्ठी पादरीसाहब के पास भेजी, जिसमें उन्होंने उनके स्वस्थ होने पर बधाई दी थी। संरक्षक ने चिट्ठी के साथ कुछ नोट भी दिये और कहा—'कुष्ठियों ने श्रद्धापूर्वक ये रुपये आपके अर्पित किये हैं।' ये नोट डेढ़सौ रुपये के थे, और अपने दो आने रोज़ की आमदनी से काट-काटकर उन्होंने यह रकम बचाई थी ! कोढ़ियों ने कहा था—'और तो हमारे पास कुछ है नहीं, यह छोटी-सी रकम हम लोग आपकी सेवा में इसलिए भेजते हैं कि हमारे प्रेम के साथ इसे स्वीकार कीजिये, और आबहवा बदलने के लिए तथा विश्राम के लिए इसका उपयोग कीजिये।' यह सुनकर मि० उफमैन की आंखों में आंसू झलक आये। वर्षों से जो शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम उन्होंने इन कुष्ठियों के लिए किया था, तथा जो आत्मिक कष्ट सहे थे, उसका मानो यह मधुर पुरस्कार मिल गया। पांचसौ कुष्ठियों के इस सहृदयतापूर्ण दान को उन्होने सिर से लगाकर स्वीकार किया।"

दूसरे दिन मि० मिलर ने कहा, "आज आप स्वयं अकेले जाकर निरीक्षण कीजिये, और आश्रमवासियों से जो कुछ पूछना चाहें, पूछिये।" मलाबार के एक कुष्ठी सज्जन मेरे साथ चलने को राजी हुए। उनका

रोग अब काफी बढ़ गया है। रास्ते में चलते-चलते मैंने उनसे पूछा कि आप यहां कैसे आ गये? उन्होंने अपनी रामकहानी इस प्रकार सुनाई—

"मैं मलाबार के एक नगर में सर्वेयर के विभाग में काम करता था। वेतन ३५-४०) तक पहुंच गया था। एक दिन मेरी कलाई पर नई बीमारी के कुछ लक्षण दिखाई दिये। मैने आफिस के हैड बाबू से कहा कि मुझे आप छुट्टी दे दीजिये। उन्होंने समझा कि कोई मामूली बीमारी है, इसलिए पहले तो छुट्टी देने से इनकार कर दिया। पीछे जब पता लगा कि यह तो कुष्ठ रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं, तो छुट्टी देनी पड़ी। जब यह समाचार मेरे माता-पिता को लगा, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कड़ा दिल करके मुझे घर से अलग कर दिया, नहीं तो मेरे भाई-बहनों के विवाह में बाधा पड़ती, और अब कई वर्ष से मैंने अपनी माता को चिट्ठी भी नहीं भेजी। अपने भाई-बहन के भविष्य का खयाल करके मैंने स्वयं ही घर से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़ देना उचित समझा।"

मैंने पूछा, "क्या आपकी माता को खबर भी नहीं कि आप कहां हैं, और कैसे हैं?" मलाबारी सज्जन ने उत्तर दिया, "नहीं, उन्हें बिल्कुल खबर नहीं।" यह कहते हुए उनकी आंखों में आंसू झलक आये। फिर उन्होंने कहना प्रारम्भ किया, "यह बीमारी ऐसी है कि प्रारम्भिक अवस्था में तो रुक जाती है, लेकिन आगे बढ़ जाने पर फिर आराम होना लगभग असम्भव हो जाता है। पहले तो मुझे आयुर्वेदिक दवाइयों से कुछ लाभ हुआ भी था, पर पीछे मर्ज़ बढ़ने लगा, और अब तो आप देख ही रहे हैं।"

मलाबारी सज्जन की उंगलियों तथा आंखों पर बीमारी अपना प्रबल प्रभाव डाल चुकी थी। मैं उस समय कल्पना कर रहा था कि इनके माता-पिता और भाई-बहन को कितना दुःख होगा। इनका जीवन कितना करुणाजनक है!

मैंने उनसे कहा, "आप जानते हैं कि कितने ही आदमी ऐसे होते हैं, जो दूसरों पर अविश्वास करते हैं, जिनमें जातीय विद्वेष पाया जाता

है, और जो दूसरे आदमियों से केवल इसीलिए घृणा करते हैं कि उनके शरीर का चमड़ा काला, पीला या सफेद है। उनकी आत्मा को कुष्ठ की बीमारी लग गई है। आप तो उनसे कहीं अच्छे हैं, क्योंकि आपको तो केवल शारीरिक बीमारी है। क्यों, ठीक है न ?"

हमारे मित्र के चेहरे पर कुछ मुस्कराहट-सी आ गई। बड़ी देर तक वह हमारे साथ घूमते रहे। इंजेक्शन लगवाने के लिए उस समय बाहर का पांच-छै वर्ष का एक बच्चा अपने किसी रिश्तेदार के साथ आया हुआ था। रोग बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में था। शरीर पर एकाध जगह लाल चित्ते से दीख पड़ते थे। बच्चा बुरी तरह रो रहा था। इंजेक्शन में इतना कष्ट नहीं होता, जितना उसकी भयंकर तैयारी को देखकर होता है। अंग्रेज़ नर्स बड़े प्रेमपूर्वक उस बच्चे को बंगला भाषा में बहला रही थी कि बेटा ! कुछ न होगा, पर वह बच्चा क्यों मानने लगा। जब इंजेक्शन लग गया तो कपड़े पहनकर वह बड़ी खुशी-खुशी अपने रिश्तेदार के साथ चला गया। डाक्टरसाहब ने प्रत्येक मरीज़ का वृत्तान्त अलग रख छोड़ा था। उनके कार्य का अनुमान आप इसी बात से कर सकते हैं कि सन् १९३० में बीस हजार से अधिक इंजेक्शन देने पड़े, और सन् १९३१ में उनकी संख्या तीस हज़ार से कम न हुई होगी। प्रत्येक बुधवार को बाहर से दो सौ ढाई सौ आदमी इंजेक्शन लगवाने के लिए आते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि लंगड़ाते-लंगड़ाते बीसियों मील पैदल चलकर कोई कुष्ठी आश्रम पर आता है, और बड़े दीन स्वर में प्रार्थना करता है कि मुझे भर्ती कर लीजिये, पर आश्रम के संचालकों को यह प्रार्थना खेद-पूर्वक अस्वीकृत करनी पड़ती है, क्योंकि उनके पास इतना पैसा नहीं कि वे अधिक रोगियों को भर्ती कर सकें।

आश्रम के संचालक प्रेमपूर्वक सेवा करने में और ईश्वर-प्रार्थना में विश्वास रखते हैं, और उसीके भरोसे अपना काम करते हैं। कैसा भयंकर काम है ! रोगियों की वीभत्स शकल देखकर ही रूह कांप उठती है। यदि किसीको सच्ची धार्मिक लगन के जीते-जागते दृष्टान्त देखने हों,

तो वह उन मिशनरी सिस्टर्स को जाकर देखे, जो चुपचाप बिना किसी कीर्ति या प्रशंसा की आशा के अपना काम कर रही हैं।

एक अण्डाकार गुदगुदी टोकरी में चार-पांच महीने का बच्चा धूप ले रहा था। मैंने मि० मिलर से पूछा, "यह किसका है ?" मि० मिलर ने उसकी मां को जो कुष्ठ रोग से पीड़ित थी, बुला दिया। वह मुस्करा रही थी। मि० मिलर ने उससे पूछा, "कितने महीने का है ? पर वह हँस दी, और कहा, "मुझे नहीं मालूम।" मि० मिलर ने हँसकर कहा, "तुम्हारा बच्चा और तुम्हें उसकी उम्र भी नहीं मालूम !" सब आश्रम-वासी मि० मिलर को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, और मि० मिलर भी उनसे प्रेम करते हैं। इस प्रेम में कोई कृत्रिमता नहीं है। घंटे भर मि० मिलर के साथ घूमने से ही पता लग जाता है कि आश्रम-निवासियों का जो प्रेम उन्होंने प्राप्त किया है, वह उनकी सच्ची सहृदयता का परिणाम है।

आश्रम का वायुमंडल प्रसन्नता से परिपूर्ण है। नीचे रबर टायर लगाये हुए घसिटती-घसिटती बुड्ढी डोकरी चली जा रही है। मि० मिलर पूछते हैं, "बूढ़ी मां, किधर जा रही हो ?" वह हँसकर जवाब देती है। दो औरतों के एक-एक कृत्रिम पैर लगा हुआ है, और वे मामूली आदमियों की तरह चल-फिर लेती हैं। एक बुढ़िया ३७ वर्ष से आश्रम में रह रही है, संचालन-कार्य में बड़ी मदद दे रही है। आश्रम में पूर्ण धार्मिक स्वाधीनता है। प्रार्थना या क्लास में जाना न जाना आश्रमवासी की इच्छा पर निर्भर है। फैली हुई जगह है, मुक्त आकाश है, वृक्षों के समूह है, और आश्रमवासी उसे स्वयंस्वच्छ बनाये रखने के लिए भरपूर प्रयत्न करते रहते हैं। सुन्दर लिपे-पुते घर के आंगन में धान के ढेर-के-ढेर रखे हुए हैं। आश्रम के सुपरिन्टेन्डेन्ट रेवरेण्ड ई० बी० शार्प बड़े सहृदय सज्जन हैं, और उनकी देखरेख में सम्पूर्ण कार्य बड़ी सावधानी के साथ होता है। अस्पताल में डा० रघुनाथराव मुस्तैदी के साथ अपने काम पर डटे हुए हैं।

भारतवर्ष में कई लाख कुष्ठी हैं। उनके दुःख-समूह की कल्पना कीजिये। इस आश्रम को देखकर हृदय में नाना प्रकार के भाव उठे।

मूकों को वाणी देने में ही सच्ची कला का महत्त्व छिपा हुआ है।

बांकुड़े के कुष्ठाश्रम को देखकर सर पी० सी० राय ने कहा था—

"हमारे यहां कितने ही आदमी अकसर कहा करते हैं कि हम लोग—पूर्वी देशों के लोग—आध्यात्मिक हैं, और पश्चिमी देशवाले बिल्कुल दुनियावी; लेकिन बांकुड़े में आकर मैं देखता हूं कि इन दुनियावी पाश्चात्य लोगों ने ही आपके हित के लिए कालेज तथा अन्य हितकारक संस्थाएं कायम कर रखी हैं, और उन्होंने यह कुष्ठाश्रम बनाया है, जहां वे हमारे देश के उन निवासियों का, जो हमारे ही रक्त-मांस से बने हैं, पर जिन्हें हम घर से निकाल देते हैं कि कहीं उनके संसर्ग से हम अपवित्र न बन जायं, स्वागत करते हैं।"

मि० मिलर से हमारी कई घंटे बातचीत हुई। उनसे हमने कुछ प्रश्न भी पूछे। एक बात हम लिखे बिना नहीं रह सकते। उन्होंने कहा—

"इसे केवल एक स्वास्थ्य-सबंधी कार्य ही न समझ लेना चाहिए। जबतक हमारे हृदय में यह दृढ़ विश्वास न होगा कि कोढ़ी लोग हमारे प्रेम तथा सेवा के अधिकारी हैं, तबतक हम इस दिशा में अधिक काम नहीं कर सकते।"

महात्मा गांधी ने कहा है—

"जब गुलाब खिलता है, तो वह दुनिया में अपने खिलने का ढिंढोरा थोड़े ही पीटता है। उसकी सुगंध ही उसके माधुर्य का पर्याप्त प्रमाण है।"

जब मैंने मि० मिलरस से उनका तथा उन सिस्टर्स का फोटो माँगा, जो वहां काम कर रही हैं, तो उन्होंने कहा, "मेरा फोटो आप छापकर क्या करेंगे ? और इस समय मेरे पास है भी नहीं। और रही सिस्टर्स के फोटो की बात, सो वे इसे पसन्द न करेंगी। वे विज्ञापन नहीं चाहतीं, चुपचाप काम करना चाहती हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य कभीका चला गया। उसे लोग भूल जायंगे, पर इन अंग्रेज़ बहनों और भाइयों की सेवा की सुगंध कृतज्ञ भारतीयों के हृदयों को चिरकाल तक प्रफुल्लित करती रहेगी।

: १२ :

आचार्यवर गीडीज़

[आज जाति-जाति, देश-देश और मानव-मानव के बीच भेद की जो गहरी खाई विद्यमान है, उसे पाटकर विश्व में एकता का सन्देश फैलानेवालों को हम 'सेतुबन्ध के इंजीनियर' (Bridge Builder) कह सकते हैं और आचार्य गीडीज़ उन्हीं इंजीनियरों में अग्रगण्य थे।]

सन् १९१३ में नागरिकता और नगर-निर्माण की जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी बेलजियम में हुई थी, उसके मूल में आचार्य गीडीज की यही ऐक्य भावना थी। उन्होंने उक्त प्रदर्शिनी का सामान भारतवर्ष को जहाज़ द्वारा भिजवाया था, पर दुर्भाग्यवश जर्मन जहाज़ ऐमडन द्वारा वह समुद्र में डुबा दिया गया। पर प्रोफेसर गीडीज़ ने हिम्मत नहीं हारी और अपने मित्रों की सहायता से फिर से उसी प्रकार की प्रदर्शिनी तैयार की और वह भारतवर्ष भेजी गई। यह बात उल्लेखनीय है कि भारतवर्ष में नगर-निर्माण की वैज्ञानिक आयोजनाओं का प्रारम्भ इसी प्रदर्शिनी के बाद से हुआ है। उनकी विश्वऐक्य की स्कीम का आधार घर था और घरों, मुहल्लों और नगरों के संघ से प्रारम्भ करके वह उसे जनपदों और प्रान्तों तक ले जाना चाहते थे और तत्पश्चात् उसे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने के पक्षपाती थे। वह जनता का राष्ट्र-संघ चाहते थे, न कि सरकारों का।

जनपदीय जांच और संगठन के वह प्रवर्तक तथा प्रबल पक्षपाती थे। वह कहते थे, "जनपदीय होने के मानी यह थोड़े ही हैं कि जहां आपका जन्म

हुआ हो, जिन्दगी-भर आप वहां रहें और वहीं मरें। उसका अर्थ यह है कि अपने जन्मस्थान तथा आस-पास का आप विधिवत् अध्ययन करें, पूरे-पूरे विवरण के साथ तथा सभी दृष्टिकोणों से। कला को पुनर्जीवन प्रदान करने का यही उपाय है।"

जो महानुभाव हिन्दी-जगत् के जनपदीय आन्दोलन के विरोधी हैं, उन्हें आचार्य गीडीज़ के जीवन-चरित का अध्ययन करना चाहिए। अपने ऐडिनबरा के 'आउट लुक बुर्ज' की तरह का एक 'दूरदर्शी बुर्ज' वह बम्बई के लिए भी बनाना चाहते थे, जिसमें ये विभाग रखने का उनका विचार था—बम्बई नगर, पश्चिमी भारत, भारत, एशिया, यूरेशिया और अखिल जगत्। इन सबके निरन्तर प्रगतिशील सम्बन्धों को जनता के सामने प्रकट करना ही उनका लक्ष्य था।

जनपदीय आन्दोलनों के विरोधियों के इस कथन के कि इससे जनपदीय बोलियां जागृत होकर उठ बैठेंगी और फिर इनसे खड़ी बोली को खतरा होगा उत्तर में स्वयं आचार्य गीडीज़ के निम्नलिखित शब्द उद्धृत करना पर्याप्त है :

"बिलाशक ज़िन्दा रहने में खतरा है। जीवित रहना निस्संदेह भयंकर है। सबसे अधिक सुरक्षित स्थान तो कब्र है, जहां निर्भयतापूर्वक लेटा जा सकता है।"

आचार्य गीडीज़ का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। उनका सम्पूर्ण जीवन उनके व्यापक दृष्टिकोण का प्रमाण था। विद्यार्थी अवस्था में वह यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में शिक्षा पाने के लिए घूमे थे और तत्पश्चात् भारतवर्ष में तथा पूर्वीय देशों में उन्होंने दस वर्ष व्यतीत किये थे। अमरीका भी अनेक बार गये थे।

उनका विस्तृत जीवन-चरित 'दी इंटरप्रेटर गीडीज़' (एमेलिया डेफ्रीज़ द्वारा लिखित) लन्दन से प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखी थी। उनका एक अत्युत्तम स्केच ए० जी० गार्डिनर 'पिलर्स ऑव सोसाइटी' नामक पुस्तक में दिया है। नवम्बर

सन १९३६ के 'माडर्न रिव्यू' में उनके सुपुत्र आर्थर गीडीज़ का लेख भी पठनीय है। साथ के रेखा-चित्र का आधार यही तीन चीज़ें हैं।]

घरबैठे तीर्थराज का आगमन। इन्दौर का हिन्दी साहित्य-सम्मेलन। महात्मा गांधी तथा प्रोफेसर गीडीज़ के संयुक्त दर्शन। यह शुभ घटना सन् १९१८ की है। सम्मेलन के साथ पत्रों तथा पुस्तकों की एक प्रदर्शिनी भी हुई थी और साहित्य-विभाग के मन्त्री होने के नाते उसका प्रबन्ध हमारे हाथों में ही था। जिस दिन प्रदर्शिनी का उद्घाटन हुआ था, उसी दिन उस भवन में हमने दो ऋषियों के—भविष्य के दो निर्माताओं के—एक साथ ही दर्शन किये। प्रोफेसर गीडीज़ एक विस्तृत प्लेटफार्म पर टंगे हुए नक्शों को बड़े उत्साहपूर्वक महात्माजी को दिखला रहे थे। वे चित्र संभवतः इन्दौर के नव-निर्माण के थे। उन दोनों द्रष्टाओं के उस स्मरणीय मिलन का दृश्य अब भी हमारी आंखों के सामने है।

महात्मा गांधी तथा प्रोफेसर गीडीज़ दोनों नामों को एक साथ देखकर भले ही किसीको आश्चर्य हो; पर बात वास्तव में यह है कि भावी संसार के निर्माण में इन दोनों महापुरुषों का उल्लेख-योग्य भाग होगा। यदि निकट से देखा जाय तो प्रोफेसर गीडीज़ भी सच्चे महात्मा थे और यदि कभी यह जगत रहने लायक बनेगा, कभी इस रेगिस्तान में उपवन लगेंगे, स्वार्थमय बालू की जगह आदर्शवादिता की हरियाली दीख पड़ेगी तो इस परिवर्तन के लिए हम प्रोफेसर गीडीज़ के उतने ही ऋणी होंगे, जितने अन्य किसी महापुरुष के। यदि हम कहीं शिक्षा-विभाग के अधिकारी होते तो उच्च कक्षाओं में संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों के जीवन-चरित पाठ्य पुस्तकों के रूप में अवश्य रखते। जिन महापुरुषों के द्वारा भावी संसार की रचना होगी, उन स्वप्नदर्शी तथा व्यवहार-कुशल व्यक्तियों के वृत्तान्त पढ़ाने के बजाय हम लोग अपने विद्यार्थियों को बिल्कुल निरर्थक और ऊलजलूल किताबें पढ़ाकर उनका और अपना वक्त बर्बाद कर रहे हैं। हमारे विश्वविद्यालयों की ऊसर भूमि में करील-

रूपी प्रोफेसर दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका व्यक्तित्व टेंटी की तरह टुटिहर (क्षुद्र) और जिनका ज्ञान बालू की तरह शुष्क होता है। हमारे विश्व-विद्यालयों ने एक नवीन जाति का निर्माण कर दिया है, जो साधारण जनता तथा उसके कार्यकर्त्ताओं को अछूत समझकर अलग ही अपना फालतू जीवन व्यतीत करती है। प्रोफेसर गीडीज़ उस प्रकार के प्रोफेसर नहीं थे। वास्तव में उनका दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की तरह था और उनका जीवन भी वैसा ही निस्स्वार्थ था। योग्य-से-योग्य शिष्यों के निर्माण में ही वह अपना गौरव मानते थे और इस प्रकार आधुनिक युग में आचार्य-शिष्य-परम्परा को उन्होंने हमारी आंखों के सामने उपस्थित कर दिया था। ज्ञान-विज्ञान की कितनी ही शाखाओं के वह विशेषज्ञ थे और आज उन शाखाओं के आचार्यों में जिन लोगों की गणना होती है, वे या तो गुरुवर गीडीज़ के शिष्य रह चुके हैं या उनके विचारों से पूर्णरूप से प्रभावित हुए हैं। वनस्पति-शास्त्र के वह माने हुए आचार्य थे, नगर-निर्माण-कला के प्रथम प्रवर्तक, गार्डन सिटीज़ (उद्यान नगर) की कल्पना उन्हींके उर्वर मस्तिष्क द्वारा प्रसूत हुई थी, जनपदीय भूगोल की शिक्षा का प्रारम्भ उन्हींके द्वारा हुआ था, जीव-विज्ञान, प्रजनन-शास्त्र और सैक्स (यौन-शास्त्र) आदि विषयों पर उनके ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। समाज-शास्त्र के तो वह विश्व-विख्यात आचार्य थे ही।

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात आचार्य गीडीज़ के विषय में यह थी कि वह शुष्क ज्ञान के घोर विरोधी थे। संचित ज्ञान को जनता की सेवा में अर्पित करना ही उनके जीवन का उद्देश्य था। घूरे पर फूल उगा देना, दलदल को उपवन के रूप में परिवर्तित कर देना और गंदी गलियों को स्वस्थ बीथियों में बदल देना, उस व्यवहार-कुशल स्वप्नदर्शी वैज्ञानिक के बाएं हाथ का खेल था!

प्रोफेसर गीडीज़ का जन्म सन् १८५३ में स्काटलैंड में हुआ था। उनके पिता रायल हाईलैन्डर सेना में कप्तान थे और वह अपनी सच्चाई,

उदारता, भलमनसाहत तथा दयालु स्वभाव के लिए चारों ओर विख्यात थे। उन्होने खासी अच्छी उम्र पाई थी। परिश्रमशीलता प्रोफेसर गीडीज़ को अपने पिताजी से पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। सत्तर-बहत्तर वर्ष की उम्र में वह जितना काम कर सकते थे उतना बीस-पच्चीस वर्ष के युवकों के लिए भी कठिन है। एक बार आप कहीं भाषण दे चुके थे कि श्रोताओं में से किसीने मिस डेफ्रीस से, जिन्होंने आचार्य की जीवनी लिखी है, कहा—

"या तो प्रोफेसर गीडीज़ का ज्ञान बिल्कुल उथला है या फिर उन्होंने रटने की शक्तिशाली मशीन का आविष्कार कर लिया है। कोई आदमी इतने भिन्न-भिन्न विषयों पर इतना अधिक कैसे जान सकता है?"

जब यह बात प्रोफेसरसाहब से कही गई तो वह बोले, "तुम समझती हो कि मैं कोई प्रतिभाशाली महापुरुष हूं। जनाब, बिल्कुल नहीं। बात असली यह है कि मैं अधिकांश आदमियों से अधिक मेहनत कर सकता हूं और शरीर से हट्टा-कट्टा और तन्दुरुस्त हूं। गोवंश में जैसे बूढ़ा किन्तु सबल सांड हुआ करता है वैसे ही मैं भी एक शक्तिशाली वंश का वृषभ हूं। हां, और कुछ नहीं।"

सर चिमनलाल सीतलवाड ने, जो उन दिनों बम्बई विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर थे जब गीडीज़साहब बम्बई में समाज-शास्त्र के अध्यापक थे, उनके विषय में लिखा था—

"उनकी पोशाक, रंग-ढंग और आत्म-विस्मृति को देखकर कोई इस बात का अंदाज़ भी नहीं कर सकता कि प्रोफेसर गीडीज़ कितने गंभीर विद्वान और कितने काबिल आदमी हैं। लेकिन यदि आपको उनको निकट से जानने का सौभाग्य प्राप्त हो तो आप यह देखकर आश्चर्य करेंगे कि इस छोटे-से मस्तिष्क में इतना विशाल और इतने भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान कहां से समा गया! अन्यत्र ऐसी गंभीर विद्वत्ता दुर्लभ ही समझिये। साथ ही उनमें सहृदयता और हास्यरस की स्वाभाविक

प्रवृत्ति भी अद्‌भुत मात्रा में विद्यमान है और उनकी परिश्रमशीलता का क्या कहना ! उसे देखकर ताज्जुब होता है। मैंने बम्बई विश्वविद्यालय में प्रातःकाल से रात तक काम करते हुए उन्हें देखा है और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ है कि इस उम्र पर वह इतना काम कर कैसे सकते हैं।"

आचार्य गीडीज़ में शिष्य-भावना खूब विद्यमान थी और वह अपनी युवावस्था में यूरोप के भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में ज्ञान-संचय करते हुए घूमते फिरे थे। उन्होंने अपना यह नियम बना लिया था कि वर्ष-भर में वह तीन महीने से अधिक अध्यापन-कार्य नहीं करेंगे। शेष नौ महीने वह इधर-से-उधर घूमने में, स्थान-स्थान से ज्ञान तथा अनुभव का संचय करने में, बिताते थे। यदि आज से सैकड़ों वर्ष पहले उनका जन्म भारत में हुआ होता तो वह नालन्दा और तक्षशिला की शिक्षा समाप्त कर आचार्य कुमारजीव के साथ चीन की पैदल यात्रा करते। अर्थ-संचय की ओर उनका ध्यान बिल्कुल ही नहीं था और यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि उन्हें बड़ी संतोषशील पत्नी मिली थीं, जिन्होंने अपने संन्यासी वृत्तिवाले पतिदेव की सनकों पर कभी उद्विग्नता प्रकट नहीं की। यही नहीं, बल्कि पतिदेव के शिष्यों को पुत्र-पुत्रीवत् मानकर, उनकी भी सहायता करती रहीं।

आज हमारे विश्वविद्यालय जैसे निर्जीव बने हुए हैं, उन्हें देखकर प्रोफेसर गीडीज़ को हार्दिक वेदना होती थी। वह चाहते थे कि ये यूनीवर्सिटियां जिस जनपद या क्षेत्र में विद्यमान हों, वहां के जीवन में उनका पूरा-पूरा प्रवेश हो, बल्कि यों कहिये कि उक्त जनपद या क्षेत्र की वे जान बन जायं, उनकी आत्मा का रूप धारण कर लें। विश्वविद्यालयों के साधारण जनता के सम्पर्क में आने का जो आन्दोलन हुआ है, उसके सूत्रपात करनेवालों में आचार्य गीडीज़ अग्रगण्य थे।

जनपदीय जांच तथा जनपदीय संगठन की भावना उन्हींके मस्तिष्क की उपज थी, वही उनके पिता थे। उनके कार्यक्षेत्र का केन्द्र यदि किसी क्षुद्र नगर का मुहल्ला या गली थी तो उसकी परिधि में सम्पूर्ण संसार

आ जाता था। अपना घर, गली, नगर, जनपद प्रांत तथा देश और फिर संसार और इन सबकी सेवाओं का सामंजस्यपूर्ण समन्वय, यही आचार्य गीडीज़ के जीवन की फिलासफी थी, यही उनका दर्शनशास्त्र था।

प्रोफेसर गीडीज़ के शिक्षा-सम्बन्धी विचार बिल्कुल क्रांतिकारी थे। शिक्षा का अर्थ वह बतलाते थे, आस-पास की स्थिति के प्रति जागरूकता। अपने लड़कों को भी उन्होंने इसी पद्धति से पढ़ाया था। हृदय, मस्तिष्क और हाथों की शिक्षा को ही वह वास्तविक शिक्षा मानते थे। उनकी शिक्षा-पद्धति का मूल सूत्र था : "Look and see, find out and do"—"देखो-भालो, पता लगाओ और काम करो।"

यदि उनके उपदेशों का सार एक वाक्य में लिखा जा सके तो वह यह होगा :

"Do something. Don't write about it. Be a citizen first, a scholar, if time permits."

अर्थात्—"कुछ काम करो। उसके बारे में लिखो मत। पहले नागरिक बनो, उसके बाद यदि वक्त बचे तो विद्वान् बन सकते हो।"

उनके लड़के स्वर्गीय एलेस डेयर गीडीज़ के विषय में फौजी अधिकारियों ने लिखा था—"तमाम ब्रिटिश फौज में उसकी बराबरी का अन्वेषक (Observer) कोई नहीं था।" एलेस डेयर युद्ध में मारे गए थे। उन्होने ग्रामीण विद्यालय में, पब्लिक स्कूल में और विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी, कला के विद्यार्थी रहे थे, उद्यान में माली का काम उन्होंने सीखा था, बाज़ार में साग-तरकारी और फल-फलैरी उन्होंने बेची थी, गाय-बैल चराये थे, हल हांके थे, जहाज़ पर रसोई बनाने का काम किया था, आर्कटिक की यात्रा में नक्शे बनाने का काम किया था। वह अच्छे एक्टर थे और नाच-गा भी सकते थे। जहाज़ की नौकरी करते हुए पैसे बचाकर उन्होंने एक साइकिल खरीदी थी और उसपर सवार होकर इंगलैंड, नीदरलैंड तथा फ्रांस की यात्रा की थी। फ्रेंच तथा जर्मन तो वह धाराप्रवाह बोल सकते थे। फ्लेमिश भाषा के अच्छे जानकार थे और

मैलिक में भी आपकी गति थी। प्रोफेसर गीडीज़ के मतानुसार युवकों को किस प्रकार शिक्षा दी जानी चाहिए, इसके उदाहरण आपके उक्त सुपुत्र थे।

प्रोफेसर गीडीज़ ध्यान और चिन्तन को बहुत महत्त्व देते थे। अगर रात को दो-तीन या चार बजे नींद खुल जाती तो सवेरे सात या साढ़े सात बजे तक, जबकि कार्य प्रारम्भ करते थे, वह चिन्तन किया करते थे। प्रात:काल के ब्राह्म मुहूर्त्त को वह कभी नष्ट नहीं होने देते थे। जिस प्रकार कोई वीणा बजानेवाला प्रात:काल में अपना अभ्यास करता है, उसी प्रकार वह भी मस्तिष्क का यह अभ्यास किया करते थे, उनका यह दृढ़ विश्वास था कि ठोस काम करने के लिए गम्भीर चिंतन की अत्यन्त आवश्यकता है और वह एकान्त में ही किया जा सकता है। वह कीर्ति-लोलुप बिल्कुल नहीं थे और विज्ञापन की दुनिया से दूर भागनेवालों में से थे। एक कार्य के समाप्त होने के बाद दूसरे को प्रारम्भ करने के लिए वह उत्सुक रहते थे। उन्होंने एक बार कहा था—

"जिस प्रकार बच्चों को एक खेल खेलने के बाद दूसरा खेल खेलने में मज़ा आता है, उसी प्रकार हम लोगों की रुचि नवीन अनुसंधान (नवीन कार्य) के प्रति रहती है। एकांत कोठरी का, तपोवन का, स्वाध्याय-मंदिर और प्रयोगशाला का, यही तो उपयोग है। लन्दनवाले राजनीति, पूंजी, मज़दूर इत्यादि के विषय में बहुत-कुछ बकवाद तो किया करते हैं, लेकिन पार्लामेंट की तमाम कार्रवाई प्राय: निरर्थक और निष्फल होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि पार्लामेंट के मेम्बरों के पास एकांत स्थल या स्वाध्याय भवन नहीं है, जहां शांतिपूर्वक बैठकर वे कुछ चिन्तन कर सकें, कोई नवीन विचार जनता के सम्मुख ला सकें। लेकिन अब वक्त आ पहुंचा है जब पुराने ज़माने के मठों की तरह के मठ समाज-विज्ञान के साधकों के लिए बनाने होंगे जहांपर बैठकर वे कुछ साधना, कुछ तपस्या कर सकें। सामाजिक प्रश्नों को हल करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।"

इस प्रकार एकांत में बैठकर जो विचार वह करते थे, उनको वह लिख लेते थे और उनके विचारों के ढेर-के-ढेर इकट्ठे हो गये थे, जिनसे बीसियों संदूकचे भरे पड़े थे ! विश्वविद्यालयों के विषय में वह एक पुस्तक लिखना चाहते थे और उसके बारे में चालीस वर्ष से मसाला इकट्ठा कर रहे थे। विचारों को ही वह अपनी सबसे बड़ी पूंजी मानते थे, पर उनको पेटेण्ट कराने के (उनपर अपना सर्वाधिकार रक्षित करने के) वह सर्वथा विरोधी थे। विचारों को बेचना वह अपनी सन्तान बेचने के समान ही पापमय कर्म समझते थे। उनका यह कहना था कि यदि विचारों को विधिवत् विषयानुसार छांटकर रखा जाय, पत्रों के कटिंग काट-काटकर उन्हें ढंग के साथ चिपका दिया जाय और यह सब मसाला किसी एक स्थान पर सुरक्षित रहे तो लेखकों, शिक्षकों, व्याख्यान-दाताओं के लिए वह संग्रहालय बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। क्या ही अच्छा हो, यदि हिंदी जगत् की कोई संस्था प्रोफेसर गीडीज़ के इस विचार को कार्य-रूप में परिणत कर दे।

प्रोफेसर गीडीज़ के बातचीत करने का ढंग अद्भुत था। मेंढक की तरह एक विषय से दूसरे पर कूदना उनके लिए बड़ा आसान था, पर इससे उनके श्रोता लोग बड़े चक्कर में पड़ जाते थे। यद्यपि वह कोई अप्रासंगिक बात नहीं करते थे और जिन विषयों पर उनका प्रवचन होता था वे मूल में परस्पर सम्बद्ध भी होते थे, पर अल्पज्ञ श्रोताओं के लिए यह दिमागी कसरत थकानेवाली हो जाती थी। दूसरों को स्फूर्ति और प्रोत्साहन देना तो मानो उन्हींके हिस्से में आया था। एक लेखक ने लिखा था, "गीडीज़ के कार्य का प्रभाव सबसे अधिक इस बात में है कि उन्होंने जाने कितने व्यक्तियों को कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया है। उनसे पहले-पहल बातचीत करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों आकाश से वज्रपात हुआ ! उनका सम्भाषण पहले तो धक्का देता है और फिर उनके धाराप्रवाह विचारों में इतनी तेज़ी और ताज़गी होती है कि सुननेवाला बह जाता है। आपके विचारों को—आपके सिद्धांतों

को—वे ग्रापकी ग्रांखों के सामने ही खंड-खंड कर डालेंगे ग्रौर फिर उन-पर ग्रपने विचारों का खोल चढ़ाकर इस ढंग से उपस्थित करेंगे कि वे बिल्कुल नवीन सिद्धांत प्रतीत होने लगें। ग्रपने विचारों की इस काया-पलट से स्वयं ग्रापको ग्राश्चर्य हुए बिना न रहेगा।"

उनकी जीवनचरित-लेखिका ने उनके कई प्रवचनों का सारांश उद्धृत किया है, जिससे उनकी ग्रद्भुत सम्भाषण-शक्ति का ग्रनुमान हो सकता है।

एक बार बातचीत करते हुए उन्होंने कहा था :

"हमारी वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति बड़ी खर्चीली है। यह पद्धति विद्यार्थियों की स्वतंत्र भावनाग्रों को कुचल डालती है, विचारों को दबोच देती है ग्रौर उसके परिणाम होते हैं प्रमाद, रोग तथा मृत्यु। लोग खेती करते हैं। क्या ही ग्रच्छा हो, यदि हम विचारों की खेती करें, विचारों को मौके दें। छोटे-छोटे बच्चों का मस्तिष्क विचारों से परिपूर्ण रहता है। उगने का यदि हम कुशल माली की तरह यथोचित काट-छांट करके उनको ग्रवांछनीय दिशा में जाने से रोकें, पर साथ ही स्वाधीन विचार-प्रवृत्ति को बराबर प्रोत्साहन देते रहें तो शिक्षा-जगत् में कैसी क्रांति हो जाय!"

यह सुनकर लेखिका ने कहा, "सुना है कि ग्रब्राहम लिंकन को कुछ शिक्षा नहीं मिली थी।"

इसपर प्रोफेसर गीडीज़ बोले, "यह बिल्कुल बेतुकी बात है। लिंकन ने जीवन के विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। कार्य के स्कूल में, स्थान के मदरसे में, सर्वसाधारण-रूपी पाठशाला में लिंकन ने देखा था कि स्थान का प्रभाव कार्य पर पड़ता है, सर्वसाधारण पर कार्य तथा स्थान दोनों का प्रभाव पड़ता है ग्रौर सर्वसाधारण के द्वारा स्थान तथा कार्य दोनों ही प्रभावित होते हैं। संभवतः लिंकन ने कमलों का राम-भरोसे पुष्पित होते देखा था। कौन कहता है कि लिंकन ने शिक्षा नहीं प्राप्त की थी। गलत बात है। कार्य करते-करते लिंकन ने बहुत-कुछ

सीखा था। अपने कर्तव्य का उन्होंने विधिवत् पालन किया था, अपना फ़र्ज़ बड़ी खूबी से निबाहा था। जानती हो सफलता किसे कहते हैं ! अपने प्रिय को यथासम्भव अनुकूल परिस्थिति में करना और इस प्रकार अपने जीवन को काव्य बना लेना।"

प्रोफेसर गीडीज़ कट्टर आदमी नहीं थे और न वह अपने विचारों को दूसरों पर लादना चाहते थे। उन्होंने एक बार कहा था—

"अपने विचारों को दूसरों पर ज़बरदस्ती मत लादो। स्थानीय परिस्थितियों और स्थानीय विचारों का खयाल रखो। सब लोगों की आत्माओं को अपने बताये हुए बक्सों या संदूकों में बन्द मत करो। जहां तुम सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग पर काम कर सको, वहीं करो। कार्यकर्ताओं को मेरी यही सलाह है।"

निस्संदेह भिन्न-भिन्न स्थानों में अपनी रुचि का कार्य करते हुए उन्होंने अपने जीवन को काव्य बना लिया था। कभी वह स्काटलैंड में एडिनबरा के 'आउटलुक टावर' का निर्माण करते थे, तो कभी पैलिस्टाइन में वहां के विश्वविद्यालय का ढांचा तैयार करते थे, कभी बम्बई विश्वविद्यालय में समाज-शास्त्र का अध्यापन करते थे तो कभी इन्दौर के नव-निर्माण पर ग्रंथ तैयार करते थे ! आज अमरीका में भाषण दे रहे हैं तो कल फ्रांस में एक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की नींव डाल रहे हैं। कभी शांतिनिकेतन के नक्शे में लगे हुए हैं तो कभी उस्मानिया यूनीवर्सिटी के निर्माण-चित्र में व्यस्त हैं। आज किसी वैज्ञानिक के साथ कोई ग्रन्थ लिख रहे हैं तो कल अपने किसी शिष्य को किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के लिए प्रेरणा दे रहे हैं। एक जगह जमकर वह नहीं बैठते थे। जहां-जहां उत्तम विचार मिलते थे, वहां-वहां से वह उन्हें निस्संकोच ग्रहण कर लेते थे। वह विचारों की चोरी को चोरी नहीं मानते थे। मज़ाक-मज़ाक में वह कहा करते थे, "मेरा पेशा चोरी है। अपने साथियों के विचारों को मैं उड़ा लिया करता हूं। कभी इस विश्वविद्यालय से कोई विचार लेता हूं तो कभी उससे कोई दूसरा। दिल्लगी यह है कि मेरे

संगी-साथियों को इस चोरी का पता भी नहीं लग पाता। विचारों पर किसीकी बपौती थोड़े ही है। उनपर तो सबका अधिकार है। असली साम्यवाद यही है।"

यद्यपि वह जनपदीय संगठन के प्रवर्तक थे तथापि उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। आचार्य जगदीशचन्द्र वसु का उन्होंने जीवन-चरित लिखा था। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनके जीवनचरित की भूमिका लिखते हुए लिखा था—

"जब भारतवर्ष में मेरा परिचय प्रोफेसर पैट्रिक गीडीज़ से हुआ तो मुझे सबसे अधिक आकर्षित उनकी वैज्ञानिक सफलताओं ने नहीं किया, बल्कि उनकी व्यक्तित्व की सम्पूर्णता ने, क्योंकि उनका व्यक्तित्व उनके विज्ञान से कहीं ऊंचा था। जिस किसी विषय का उन्होंने अध्ययन किया वह उनकी मानवता के साथ सजीव रूप से घुल-मिल गया। प्रोफेसर गीडीज़ में वैज्ञानिकों की निश्चयात्मक बुद्धि है और ऋषियों या सिद्धों जैसी दूरदर्शिता और साथ ही कलाकारों की वह शक्ति, जिससे वे अपने विचारों को साक्षात् रूप भी दे सकते हैं। वह मानव-समाज के प्रेमी हैं और उसीसे उन्हें सत्य को पहचानने की अन्तर्दृष्टि मिली है और साथ ही वह कल्पना-शक्ति भी प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा वे जीवन के कृत्रिम रूपों को ही नहीं, उसके असीम रहस्यों को भी वास्तविक रूप में देख सकते हैं।"

प्रोफेसर गीडीज़ इस बात को भली-भांति समझ गये थे कि संसार का प्रत्येक प्राणी अपनी विशेषता रखता है, अपना व्यक्तित्व रखता है। वह सबको यथोचित अवसर और सुविधाएं प्रदान करने के पक्ष में थे। प्रत्येक जनपद उनके लिए अलग स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता था। ज्ञान और विज्ञान की समस्त शाखाओं को एक ही स्थान में केन्द्रित करने के वह प्रबल विरोधी थे। यदि वह भारतवर्ष में शिक्षा-विभाग के अधिकारी बना दिये जाते तो न जाने कितने प्रकार के विश्वविद्यालय वह स्थापित कर देते। रूसी लेखक चेखव ने लिखा था, "यदि प्रत्येक मनुष्य उस भूमि-

खंड को, ज़मीन के उस टुकड़े को, जो उसे मिला हुआ है, सुन्दर बना दे तो दुनिया कितनी मनोहर बन जाय।" प्रोफेसर गीडीज़ के जीवन का यही मूल-मन्त्र था।

केन्द्रीय शासन तथा स्वेच्छाचार के मुकाबले में वह अपना जनपदीय संगठन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित करते थे और राजनैतिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा सांस्कृतिक झगड़ों का हल वह जनपदीय संगठन में ही देखते थे।

यहां उनके सिद्धांतों की विवेचना करने के लिए स्थान नहीं है, पर इतना तो अवश्य निश्चित ही है कि भावी संसार के निर्माण में उनका भी गौरवपूर्ण हिस्सा रहेगा।

प्रयाग में गंगा-जमुना के संगम पर हमने स्नान किये हैं और ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं जमड़ार नदी के तट पर। जमड़ार मिलती है जामनेर से, जामनेर का बेतवा से मिलन हुआ और बेतवा जमना की सहायक नदी है। इस प्रकार संगम में जमड़ार का भी जल विद्यमान है। जिन विभिन्न विचार-धाराओं के मिलन से मानव-समाज का संगम होगा वे न सिर्फ मार्क्स की होंगी, न केवल महात्माजी की। वे असंख्य मस्तिष्कों से उद्भूत होंगी और उस संगम में स्काटलैंड के उस तपस्वी की प्रबल धारा भी होगी, जो उस दिन इन्दौर में महात्मा गांधी को नगर-निर्माण के नक्शे दिखला रहा था। दो स्वप्नदर्शियों का वह मिलन—उनके वे संयुक्त दर्शन! खेद है कि तब हमारे पास केमरा नहीं था; पर हर्ष है कि नयनों में वह छवि अब भी विद्यमान है।

: १३ :

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़

दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्ड्रूज़ के दर्शन मैंने पहली बार मई सन् १९१८ में गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जोरासांकोवाले मकान पर कलकत्ता में किये थे—वैसे पत्र-व्यवहार तो सन् १९१५ से होता रहा था—और अन्तिम दर्शन उनकी मृत्यु के कुछ महीने पहले सन् १९३९ में शान्तिनिकेतन में। इन इक्कीस वर्षों में उनसे बातचीत करने के सैकड़ों ही मौके मुझे मिले। कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—गुरुदेव—के साथ बातचीत करते हुए मैंने उन्हें सुना, महात्मा गांधी के साथ टहलते हुए देखा, आचार्य श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के साथ हँसते हुए उनके दर्शन किये और आचार्य क्षितिमोहन सेन से गम्भीर वार्तालाप करते हुए मैंने उन्हें देखा। अनेक बार उनके साथ टहलने गया, कभी यात्रा भी की और पत्र-व्यवहार तो ज़िन्दगी-भर बना रहा।

अपनी ज़िन्दगी के सर्वोत्तम दिन मैं उन्हें मानता हूं जब सन् १९२०-२१ में लगातार चौदह महीने तक प्रवासी भारतीयों के कार्य में उनके सहायक की हैसियत से शान्तिनिकेतन में रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ का सबसे बड़ा गुण उनकी स्वाभाविक सहृदयता थी, मानव-जाति के लिए उनका प्रेम था। यह प्रेम किसी मुल्क या मजहब की हद से सीमित नहीं था। बिना किसी भेदभाव के वह सभी

से प्रेम कर सकते थे। यह प्रेम ही उनको इस मुल्क के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक की लम्बी यात्राओं के लिए मजबूर करता था, इसीके कारण वे विदेशों का प्रवास किया करते थे और यही उन्हें दिन-रात परिश्रम करने के लिए बाध्य करता था। अपने एक अंग्रेज़ी पत्र में महात्मा गांधी से उन्हें लिखा था :

"आज दिन-भर हर क्षरण तुम्हारी याद आती रही। कितना अद्भुत है तुम्हारा प्रेम !" दीनबन्धु दरअसल विश्व-नागरिक थे। शर्तबन्दी की गुलामी को बन्द कराने का यश खासतौर पर उन्हें ही मिलना चाहिए, यद्यपि महात्मा गांधी, राजर्षि गोखले और महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने भी उसके लिए बहुत प्रयत्न किया था। अस्सी वर्ष से यह गुलामी की प्रथा जारी थी, जिसके मुताबिक सौ आदमी पीछे तीस औरतें बहका-बहकाकर मारीशस, ब्रिटिश गायना, ट्रिनीडाड आदि टापुओं को भेज दी जाती थीं और वहां उन उपनिवेशों में उन्हें तरह-तरह की तकलीफें भुगतनी पड़ती थीं। उनमें कितने ही स्त्री-पुरुष आत्मघात कर लेते थे। मां-बाप से बेटा-बेटी अलग कर दिये जाते थे और पतियों से स्त्रियां। भारतमाता के सिर से इस कलंक को धो डालने का पवित्र काम मुख्यतया दीनबन्धु ने ही किया था और अगर अकेला यही कार्य उन्होंने किया होता, तब भी भारतीय इतिहास के पृष्ठों में उनका शुभ नाम सोने के अक्षरों में लिखा गया होता, पर उन्होंने तो और भी बीसियों सेवाएं हमारे देश की की थीं।

दक्षिण अफ्रीका में जब महात्माजी का सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था, उस समय सन् १९१३ में श्री गोखले के आदेश से और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का आशीर्वाद लेकर दीनबन्धु वहां गये थे और जनरल स्मट्स से समझौता कराने में उन्होंने बड़ी मदद दी थी।

गुरुदेव, शान्तिनिकेतन और विश्वभारती की तो उन्होंने महान् सेवा की। विश्वभारती की नींव मजबूत करने के लिए उन्होंने काफी रुपया इकट्ठा किया था और वहां अध्यापन-कार्य तो वह करते ही थे। गुरुदेव के

विषय में बीसियों ही लेख उन्होंने लिखे थे और अनेकों ही भाषण दिये थे।

शान्तिनिकेतन में सवेरे चार बजे से लगाकर रात के दस बजे तक खपते हुए मैंने उन्हें देखा था। उन दिनों वहां बिजली नहीं लगी थी। डिट्स लालटेन से वह अपना काम शुरू करते थे और सूर्योदय के पूर्व ही टहलने के लिए निकल जाते थे। कई बार उस प्रातःकालीन भ्रमण के समय उनके साथ बातचीत करने का मौका मुझे मिला था। निस्सन्देह वही उनका सर्वोत्तम समय था और उस समय उनका वार्तालाप अत्यन्त प्रेरणाप्रद और स्फूर्तिमय होता था। उगते हुए सूरज की किरणें जब उनके तेजस्वी मुखमंडल पर पड़ती थीं, अद्भुत उल्लास उससे प्रकट होता था। एक अजीब आकर्षण था उनके व्यक्तित्व में और बकौल महात्माजी, वह एक ऋषि थे, भविष्य के द्रष्टा थे।

शान्तिनिकेतन के छोटे-छोटे बच्चों को उनसे बहुत प्रेम था और वे बिना किसी संकोच के विलायती टिकट लेने के लिए उनके पास आया करते थे। उनकी छोटी-सी कुटी वेणु-कुंज का दरवाज़ा सबके लिए खुला था और चाहे जो बेरोकटोक वहां घुस सकता था। एक दिन एक पागल भिखारी घुस आया। न वह दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की बात समझ सकता था और न दीनबंधु उसकी बात समझ पाते थे! थोड़ी देर में देखता क्या हूं कि ऐण्ड्रूज़ साहब ने उसे अपनी छाती से लगा लिया है और दोनों की आंखों में आंसू झलक आये हैं! मैं यह देखकर दंग रह गया। मैंने उनसे कहा, "यह तो पागल मालूम होता है।" वह बोले, "हां, है तो कुछ ऐसा ही, पर यह बहुत गरीब है। इसके कपड़े नहीं देखते? और यह भूखा भी होगा!"

दीनबंधु ऐन्ड्रूज़ किसीको भी अपने दरवाज़े से दुरदुराते न थे और कभी-कभी तो कलकत्ता से मटियाबुर्ज के प्रवासी भारतीय आकर रात को उन्हें जगा दिया करते थे। ऐण्ड्रूज़साहब उनके भोजन तथा सोने का प्रबंध करते और फिर दूसरे दिन वापस जाने के लिए रेल के टिकट का

भी प्रबंध उन्हें करना पड़ता था।

ऐण्ड्रूजसाहब कभी ताला नहीं लगाते थे। रुपया, पैसा, नोट, कागद-पत्तर, पेंसिल, फाउंटेनपेन, चश्मा वगैरा सब बेतरतीब उनकी मेज़ पर पड़े रहते थे, पर आश्चर्य की बात यह है कि उनकी कोई चीज़ कभी चोरी नहीं गई। हां, उस गड़बड़ी में उनका चश्मा अक्सर खो जाया करता था। सन् १६२० की कलकत्ता-कांग्रेस के बाद महात्मा गांधी विश्राम करने के लिए शांतिनिकेतन आये हुए थे। मि० ऐण्ड्रूज़ का चश्मा—अपनी पुरानी आदत के मुताबिक—खो गया। वह घबराये हुए महात्माजी के पास पहुंचे और कहा, "मेरा चश्मा खो गया है।" महात्माजी ने हँसते हुए उन्हें चश्मे का एक घर दिया, पर उसमें जो चश्मा था, वह मौलाना शौकतअली का था। दीनबंधु ने उसे लगाया तो वह नहीं लगा! सब हँसने लगे। फिर महात्माजी ने दूसरा चश्मा दिया, वह लग गया, पर वह शायद कस्तूरबा का था। फिर सब हँसने लगे। ऐण्ड्रूजसाहब कुछ खीजकर बोले, "आप सब लोग हस रहे हैं, जबकि मेरा चश्मा खो गया है!" इसपर महात्माजी हँसते हुए बोले, "चश्मा तुम्हारा खो गया है, हमारा नहीं। हम लोग तो हँसेंगे ही।" यह सुनकर दीनबंधु भी हँसने लगे।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि ऐण्ड्रूज़ साहब के पास पोस्टेज के लिए भी पैसा नहीं रहता था, इसलिए पोस्टमास्टर साहब को दया करके अपने पास से ही पोस्टेज लगा देना पड़ता था। पैसा आने पर वह चुका देते थे।

एक बार ऐण्ड्रूजसाहब गुरुदेव के निवासस्थान जोरासांको से अपर सर्कूलर रोड तक 'विशाल-भारत' आफिस में पैदल ही आये। मैंने कहा, "आपने टैक्सी क्यों नहीं कर ली?" बहुत भोलेपन के साथ उन्होंने कहा, "इतना पैसा मेरे पास कहां रक्खा है? और फिर रास्ते में अपने गरीब भाइयों की हालत भी देखता आता हूं।" कुछ दिनों बाद उन्होंने पत्रों में चिट्ठी छपाई कि सर्दी के मौसम में छोटे-छोटे बच्चों को बिल्कुल

नंग-धड़ंग सड़कों के नीचे की नालियां साफ कराने के लिए जो घुसाया जाता है, वह अमानुषिक है। मैंने उन्हें इस पत्र पर बधाई दी और कहा, "आप प्रत्येक बात को बड़े ध्यान से देखते हैं!" उन्होंने उत्तर दिया, "अगर मैं टैक्सी में बैठूं तो इन चीज़ों को कैसे देख पाऊं?"

एक बार इंटर क्लास में हम लोग साथ-साथ सफर कर रहे थे। श्री ऐण्ड्रूज़ ने एक आने का चाय का प्याला लिया और पांच-सात भुने हुए मुनक्के और दो-तीन मोटे-से बिस्कुट निकाले और बड़े स्वाद के साथ खाये। फिर बातचीत करते हुए बोले, "मेरी माता पानी मिला हुआ जो दूध मुझे देती थीं, उसके पीने में जो आनन्द आता था, वह फिर कभी नहीं आया।" अपनी नासमझी से मैं पूछ बैठा, "पानी मिला हुआ दूध वह क्यों देती थीं?" ऐण्ड्रूज़ साहब बोले, "हम लोग गरीब आदमी जो थे। तेरह-चौदह भाई-बहन थे। शुद्ध दूध हमें कहां से मिलता?" मुझे अपने प्रश्न पर बड़ी लज्जा आई।

यदि वह चाहते तो हजार-डेढ़ हज़ार रुपये महीने की नौकरी उन्हें चाहे जहां मिल सकती थी। केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से उन्होंने उच्चातिउच्च परीक्षाएं बड़े गौरव के साथ पास की थीं, सेण्ट स्टीफन्स कालेज के प्रिंसीपल बनने से तो उन्होंने इंकार ही कर दिया था। उन्होंने रुपये-पैसों की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया।

दीनबंधु ऐण्ड्रूज़ अपनी सेवा करने का अवसर यथासम्भव किसी-को न देते थे। मुझे अपने चौदह महीने के दौरान में केवल दो मौकों की याद आ रही है, जब उनकी कुछ सेवा करने का सौभाग्य मुझे मिला। एक बार उन्हें ज्वर हो आया। उस दिन उन्होंने तीस-पैंतीस चिट्ठियां बोलकर मुझसे लिखवाईं और दूसरी बार मुझे आदेश दिया कि रात को एक बजे मुझे जगा देना, बोलपुर स्टेशन तक जाना है। मैंने जगा दिया। स्टेशन हम लोग पैदल ही गये। आश्रम में एक मोटर थी और वह बड़े दादा के सुपुत्र के पास थी। श्री ऐण्ड्रूज़ यदि चाहते तो वह उन्हें तुरन्त मिल जाती, पर उन्होंने मांगी ही नहीं! वह बोले, "मुक्त आकाश के नीचे

पैदल चलने में जो आनन्द आता है, वह भला धूल उड़ानेवाली मोटर में कैसे आ सकता है ?"

दिनभर काम करते-करते थक जाना उनका नित्य का नियम था और अक्सर रात को दस बजे कहते, "आज तो हम लोगों ने अच्छा काम किया।"[1] बड़ी लज्जा के साथ मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि चार-पांच घंटे से अधिक काम करना मेरे लिए कठिन था और दोपहर को सोना जरूरी, पर दीनबंधु बिल्कुल विश्राम न करते थे। दोपहरी में डाकघर की ओर लपकते हुए उन्हें कोई भी देख सकता था।

वेणु-कुंज में सही-सलामत कुर्सी एक ही थी। हां, तीन-चार छोटे-छोटे मूढ़े ज़रूर पड़े रहते थे। यदि मैं पहले पहुंचकर गलती से कुर्सी पर बैठ गया तो फिर ऐण्ड्रूज़ साहब एक छोटा-सा मूढ़ा लेकर उसीपर बैठ जाते थे और अपना काम करने लगते थे। उन्होंने मुझे यह कभी नहीं महसूस होने दिया कि मैं उनसे वेतन पानेवाला उनका नौकर हूं, यद्यपि बम्बई की एक संस्था से सौ रुपये महीने मुझे इसीके लिए मिलते थे कि मैं उनकी सहायता या सेवा करूं। कभी मैं उनसे कहता, "कुछ काम तो मुझसे लीजिये।" तब वह यही जवाब देते, "आप हिन्दी पत्रों को जो लेख भेजते हैं, वह मेरा ही तो काम है! उसे ही करते रहिये।"

श्री ऐण्ड्रूज़ अगर किसीसे डरते थे तो अपने बुड्ढे रसोइये से, जिसका नाम जौहरी था और वह मुसलमान था। उनकी निगाह में हिन्दू-मुसलमान, गरीब-अमीर, राजा-रंक सभी बराबर थे। जौहरी उन्हें कभी-कभी फटकार देता था, "साहब, तुम वक्त पर खाना क्यों नहीं खाते ?" अगर जौहरी प्रेमपूर्वक डाट-फटकार के उन्हें भोजन न कराता तो श्री ऐण्ड्रूज़ भूखे ही रह जाते! वह बच्चों की तरह उनकी देखभाल करता था!

---

१ "वी हैव डन ए गुड डेज वर्क टूडे।"

प्रारम्भ में कितनी कठिनाइयों के बीच में उन्हें काम करना पड़ा। कितने ही व्यक्ति उन्हें सरकारी खुफिया पुलिस का आदमी समझते थे। महात्मा गांधी ने यह भ्रम दूर किया था। एक बड़ी दुःखप्रद घटना मेरे सामने घटी। गुजराती रसोईघर के कुछ छात्रों ने दीनबंधु ऐण्ड्रूज़ से यह शिकायत की कि रोटी कुछ कच्ची बनती है। ऐण्ड्रूज़ साहब अपने भोलेपन के साथ नंगे पांव रसोईघर में चूल्हे तक घुसे चले गए—रसोइये से पूछने के लिए कि आखिर मामला क्या है! बस, उस दिन न तो रसोइया महाराज ने भोजन किया और न गुजराती विद्यार्थियों ने, क्योंकि अंग्रेज के चौका छू जाने से भोजन अपवित्र हो गया था। ऐण्ड्रूज़ साहब अपनी भूल के लिए पछता रहे थे और मुझे अपने देशवासियों की मूर्खता पर शर्म आ रही थी। दीनबंधु हम सबके लिए पितृ तुल्य थे, पर उनके चौका छू लेने से भोजन अपवित्र हो गया था। कई दिन बाद गुजराती छात्रों ने अपनी गलती महसूस की।

एक बार 'डेमोक्रेट' नामक एक भारतीय पत्र ने, जो नैरोबी से निकलता था, दीनबंधु पर यह अपराध लगाया था कि वह ब्रिटिश खुफिया पुलिस के आदमी है और हिन्दुस्तानियों का भेद लिया करते हैं। उस लेख से तो ऐण्ड्रूज़ साहब तिलमिला गये थे। उस समय उन्होंने एक हार्दिक वेदनापूर्ण पत्र मुझे लिखा था।

अपनी ज़िंदगी के छत्तीस वर्ष इस महापुरुष ने इन तमाम गलतफहमियों के बावजूद हमारे देश के गरीब आदमियों की सेवा में बिता दिये। कहीं अकाल पड़ा तो वह दौड़े गए, बाढ़ आई तो वह वहां पहुंचे, हड़ताल हुई तो उसके फैसले की कोशिश उन्होंने की। एक बार तो महात्माजी के उपवास के दिनों में विलायत में बड़ी दौड़धूप करके उन्होंने महात्माजी की जीवन-रक्षा ही की थी। अफीम के व्यापार को रोकने के लिए उन्होंने प्रयत्न किया और बेगार उठवाने के लिए भी वह प्रयत्नशील रहे। भारतीय विद्यार्थियों के लिए वह निरन्तर कार्य करते रहे और श्री गोखले ने उन्हें 'भारतीय विद्यार्थियों के और भारतीय

ग्राकांक्षाओं के सबसे बड़े मित्र'[1] कहा था।

कितने लोगों को इस बात का पता होगा कि भारत को पूर्ण स्वाधीनता दिलाने की आवाज़ सबसे पहले दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने ही बुलन्द की थी ! हमारे प्रधानमंत्री श्री जवाहरलालजी ने अपने आत्मचरित में कृतज्ञतापूर्वक इस बात को याद किया है। महात्मा गांधी श्री ऐण्ड्रूज़ को छोटे भाई की तरह मानते थे और अपने पत्रों में 'डीयरेस्ट चार्ली' लिखा करते थे और श्री ऐण्ड्रूज़ के हृदय में बापू के प्रति अनन्य श्रद्धा थी, यद्यपि उसमें सर्वोपरि स्थान गुरुदेव के लिए ही सुरक्षित था।

जब ऐण्ड्रूज साहब कलकत्ता में बीमार पड़े हुए थे, महात्माजी उनसे मिलने के लिए गये। उस समय उन्होंने महात्माजी से कहा था, "मोहन, स्वराज आ रहा है और मगर अंग्रेज़ तथा भारतीय मिलकर कोशिश करें तो वह आ सकता है।"[2]

उसके सात वर्ष बाद स्वराज आ गया। उसे निकटतर लाने में जिन भलेमानस अंग्रेज़ों ने मदद दी, उनकी सूची में दीनबन्धु सी० ऐफ० ऐण्ड्रूज का नाम काफी ऊंचा लिखा जायगा।

उन सब अमूल्य सेवाओं के बावजूद, जो दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ ने भारत के लिए कीं, श्री ऐण्ड्रूज़ को केवल भारतीयों का समर्थक समझना भूल होगी। वह तो मानव-मात्र के प्रेमी थे और अफ्रीकनों अथवा चीनी लोगों की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर सकते थे।

एक बार दक्षिण अफ्रीका में कुछ ज़ूलू युवकों ने उनसे पूछा था, "हम देखते हैं कि आप भारतीयों के लिए अपना जीवन अर्पित कर सकते हैं। क्या आप हम लोगों के लिए भी ऐसा कर सकेंगे ?"

दीनबन्धु एण्ड्रूज़ ने जवाब दिया, "ज़रूर-ज़रूर।" उनके लिए किसी

---

१ "ग्रेटेस्ट फ्रेंड आव इंडियन स्टूडेण्ट एण्ड इंडियन एस्पिरेशन्स।"

२ "स्वराज इज़ कमिंग, मोहन, बोथ इंगलिशमेन एण्ड इंडियन्स केन मेक इट कम, इफ़ दे विल।"

जाति या देश की सीमा तो थी ही नहीं। एक बार वह बुकर टी० वाशिंगटन की सुप्रसिद्ध संस्था 'टस्केजी इन्स्टीट्यूट' में गये थे और वहां के निवासियों को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों प्रभु ईसामसीह का कोई दूत ही उनके बीच विद्यमान है !

वास्तव में सेतुबन्ध—भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक भेदभाव को दूर करना—ही उनके जीवन का मिशन था।

: १४ :

अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटज़र

"सुबह हम दोनों स्टेशन की ओर रवाना हुए। रास्ते में मैंने उनकी अहिंसा का प्रत्यक्ष उदाहरण देखा। हम दोनों मिलकर उनका एक भारी बंडल और एक छड़ी लिये हुए थे। बंडल का एक-एक सिरा दोनों जने पकड़े थे। बर्फ की वजह से सड़क बहुत फिसलनी हो रही थी। हम दोनों झपटते हुए चले जा रहे थे। एकाएक वह रुक गये। झटके की वजह से मैं प्राय: गिर-सा पड़ा। उन्होने इसके लिए मुझसे माफी मांगी और सड़क से एक कीड़े को उठाया। कीड़ा सर्दी और बर्फ से अधमरा हो रहा था। उन्होंने उसे उठाकर सड़क के किनारे, एक झाड़ी के नीचे, सूखी भूमि में रख दिया और बाले, "यहां यह हिफाज़त से रहेगा। सड़क पर पड़ा रहेगा तो मर जायगा।"

उपर्युक्त घटना सन् १६२३ में घटी थी और यह दीनबन्धु सी. एफ. ऐण्ड्रूज़ द्वारा अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटज़र के विषय में लिखी गई है। स्वाइटज़र का जन्म १४ जनवरी सन् १८७५ को हुआ था और इस समय वह ८७ वर्ष के युवक हैं। भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञाता होने के कारण उनकी गणना संसार के अद्‌भुत् महापुरुषों में की जाती है। जिस प्रकार दक्षिण अफ्रीका के जनरल स्मट्स बड़े भारी सेनाध्यक्ष और फौजी विज्ञान के आचार्य थे, और साथ-ही-साथ बड़े राजनीतिज्ञ और दार्शनिक भी, और जिस तरह आयरलैण्ड के जार्ज रसल (ए० ई०) उत्कृष्ट कवि

होने के साथ-साथ बड़े अच्छे चित्रकार और समाज-सेवक भी थे, उसी प्रकार एल्बर्ट स्वाइटज़र भी पियानो बजाने में दुनिया के सर्वश्रेष्ठ कलाकार होने के साथ-ही-साथ अति उच्चकोटि के समाजसेवक और धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विश्वविख्यात आचार्य भी हैं।

जब एल्बर्ट स्वाइटज़र पांच बरस के थे तभीसे उनके पिताजी ने उनको गान-विद्या की शिक्षा देनी शुरू कर दी थी। आठ बरस की उम्र में वह पियानो बजाने लगे थे। १८९३ में उन्होंने स्कूल लीविंग परीक्षा पास कर ली। १८९८ में उन्होंने धर्म-विज्ञान की परीक्षा पास की और १८९९ में दर्शनशास्त्र की डिग्री ली। इस प्रकार धर्म-विज्ञान और दर्शन-शास्त्र में उन्होने ऊंची-से-ऊंची परीक्षाएं पास कर लीं।

उनकी बाल्यावस्था की कई मधुर घटनाएं प्रसिद्ध हैं। एक बार उनकी माताजी ने उनके लिए ओवरकोट सिलवा दिया, जो उनके पिताजी के पुराने ओवरकोट से बनाया गया था और उनसे कहा, "देखो एल्बर्ट, मैंने तुम्हारे लिए एक ओवरकोट बनाया है और वह बिल्कुल नया मालूम होता है।" एल्बर्ट के गाल लाल हो गये और उन्होंने कहा, "माताजी, आज तो ज़्यादा सर्दी नहीं है, मुझे ओवरकोट की ज़रूरत नहीं।" माताजी ने कहा, "देखो, काफी कोहरा पड़ा हुआ है, तुम इसे पहन लो।" एल्बर्ट ने कहा, "माताजी, और किसी बच्चे के पास तो ओवरकोट है ही नहीं, फिर भला अकेला मैं उसे क्यों पहनूं?" माताजी ने कहा, "अच्छा, इसकी चर्चा कल हम फिर करेंगे।" दूसरे दिन इसी सवाल पर अपने पादरी पिताजी से उनका झगड़ा हो गया! पिताजी ने उन्हें काफी डाट बताई और कहा, "तुम ज़िद क्यों करते हो? देखो, तुम्हारी माताजी कितना परिश्रम करके तुम्हारे लिए कपड़े तैयार कराती हैं। तुम्हारा फर्ज़ है कि उन्हें खुश करने के लिए कम-से-कम पहन तो लो!" पर एल्बर्ट इस बात से राज़ी नहीं हुए, क्योंकि वह नहीं चाहते थे कि ऐसी कोई चीज़ पहनें, जो दूसरे विद्यार्थियों को मुअस्सर नहीं। दूसरे दिन उनके पिताजी ने उन्हें धक्का देकर घर से

निकाल दिया और कहा, "जाओ, बाहर जाओ और जबतक तुम अपनी यह ज़िद नहीं छोड़ते, बाहर रहो।" एल्बर्ट घर के बाहर बैठे हुए अपने घुटनों पर हाथ रखकर रोते रहे ! यह घटना उनके समस्त जीवन पर प्रकाश डालती है।

एल्बर्ट स्वाइटज़र अहिंसा के समर्थक के नाम से मशहूर हैं। सत्याग्रह-सिद्धान्त की खूबी उन्हें कैसे ज्ञात हुई, वह भी सुन लीजिये। एक दिन उन्होंने देखा कि सड़क पर एक अपमानित यहूदी जा रहा था। गांव के लड़के उसके पीछे-पीछे उसपर आवाज़ें कसते हुए उसे और तंग करते हुए आ रहे थे, मगर वह उनके तानों के उत्तर में मन्द-मन्द मुस्करा रहा था। उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की उदारता और शराफत के भाव थे।

स्वाइटज़र ने अपने संस्मरणों में लिखा है—"उसकी इस मुस्कराहट ने मुझे वश में कर लिया। मैंने उसी यहूदी से पहले-पहल यह बात सीखी कि दूसरों के उत्पीड़न को किस तरह शान्तिपूर्वक बर्दाश्त किया जाता है। वह यहूदी ही मेरा सबसे बड़ा गुरु है।"

उनकी अहिंसा का एक उदाहरण और भी सुन लीजिये। एक बार वसंत ऋतु में वह अपने एक साथी विद्यार्थी हेनरी के साथ वन-यात्रा के लिए गये हुए थे। वहां एक पेड़ पर बहुत-सी चिड़ियां उन्होंने देखीं। हेनरी ने कहा, "देखो, कैसी सुन्दर चिड़ियां इस वृक्ष पर हैं, जिनकी चोटी लाल है, पर पीले। और एक चिड़िया को तो मैं अभी-अभी गिरा सकता हूं।"

ज्योंही हेनरी ने अपनी गुलेल के लिए एक पत्थर उठाया और एल्बर्ट से कहा कि तुम भी एक पत्थर उठाओ, उसी समय गिरिजाघर के घंटे बजने लगे। एल्बर्ट के दिमाग में बिजली की तरह एक विचार कौंध गया। बाइबिल में लिखा है—"तुम किसीकी हत्या मत करो।" बस तुरंत ही वह बड़े ज़ोर से चिल्लाये और हाथ से तालियां भी बजाईं ! इस शोर-गुल को सुनते ही तमाम चिड़ियां पेड़ पर से उड़ गईं और उनका साथी हेनरी भौंचक्का-सा रह गया। हेनरी ने उन्हें बहुत फटकारा, पर

एल्बर्ट ने उसका कोई भी जवाब नहीं दिया। उस दिन से एल्बर्ट ने यह सबक सीख लिया कि चाहे कोई कुछ भी कहता रहे, मैं उसकी परवा न करके अपनी बात पर दृढ़ रहूंगा। उस दिन के बाद वह किसी भी मछली पकड़ने या शिकार करने की पार्टी में शामिल नहीं हुए और न किसी ऐसे खेल में, जिसमें किसी जीव की हिंसा हो।

धर्म-विज्ञान और दर्शनशास्त्र में ऊंची-से-ऊंची डिग्री पाने पर भी उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं डाक्टर बनकर अफ्रीका के नीग्रो लोगों के बीच में काम करूंगा, और उन्होंने एक मेडिकल कालेज में शिक्षा प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। उनके संगी-साथियों ने उन्हें बहुत-कुछ मना किया और जब वह मेडिकल कालेज में दाखिल होने के लिए गये तो वहां के आचार्य ने उनकी इस बात पर यकीन ही नहीं किया कि उनके विश्वविद्यालय का एक महान शिक्षक मामूली विद्यार्थियों के साथ डाक्टरी के प्रथम वर्ष में दाखिल होने आ रहा है! उन्होंने समझा कि स्वाइटज़र विक्षिप्त हो गये हैं और उन्होंने स्वाइटज़रसाहब से कहा, "मालूम होता है कि आप बहुत परिश्रम करते रहे हैं, आप छुट्टी क्यों नहीं ले लेते? अगर आप चाहें तो इस बारे में मनोवैज्ञानिक डाक्टर से कुछ बातचीत कर लें।" यह सुनकर स्वाइटज़रसाहब बड़े ज़ोर के साथ हँसे और बोले, "नहीं-नहीं, मैं कोई पागल थोड़ा ही हो गया हूं। मैं सचमुच डाक्टरी पढ़ना चाहता हूं।" और तीस बरस की उम्र में वह डाक्टरी के प्रथम वर्ष में दाखिल हो गये। छः बरस तक वह घोर परिश्रम करते रहे और इस प्रकार उन्होंने डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। उसके बाद वह सालभर तक अस्पतालों में व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। सन १९१३ में वह अफ्रीका के लिए रवाना हो गये और तबसे लेकर अब तक उनन्चास वर्ष तक वहीं निरन्तर काम कर रहे हैं। दीनबंधु ऐण्ड्रूज़ ने उनके बारे में लिखा है:

"इस प्रकार तीस वर्ष की अवस्था में इस व्यक्ति के पैरों पर सारा संसार दिखाई देता था, परन्तु उसी समय स्वाइटज़र ने एकाएक

यह निर्णय किया कि वह समस्त ख्याति और ऐश्वर्य को त्याग कर, अफ्रीका की जंगली जातियों में रहकर, उनका इलाज करके उनकी सेवा करेंगे और अपना सारा जीवन उनकी सहायता करने और उन्हें आराम पहुंचाने में लगायंगे। गत सत्ताईस वर्षों से वह अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए कांगो नदी के तट पर रहते हैं और जंगली जातियों की सेवा में निरत हैं। उनकी वीर और विदुषी पत्नी उनके इस कार्य में उनकी सहायता करती हैं। उन्होंने सब प्रकार की विपत्तियां झेली हैं और अनेक बार उनका स्वास्थ्य भंग हुआ है। उन्हें आर्थिक कठिनाइयों का भी कुछ कम सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने यह ठान रक्खा है कि सरकार या किसी सोसाइटी से पैसा नहीं लेंगे, बल्कि स्वयं अपने परिश्रम पर निर्भर रहेंगे। उन्होंने अफ्रीका की दो-तीन आदिम जातियों के सम्बन्ध में किताबें लिखी हैं, जिसमें उन्होंने अफ्रीका के जंगलों में अपने जीवन की कथा सुनाई है। ये पुस्तकें मानव-प्रकृति और विज्ञान के गम्भीर रहस्यों से परिपूर्ण हैं। इन पुस्तकों की बिक्री से तथा जब कभी—बहुत दिनों बाद—वह यूरोप आते हैं, तब वहां संगीत का कन्सर्ट बजाकर जो पैसा कमाते हैं, उससे अपना, अपने परिवार का तथा अस्पताल का खर्च चलाते हैं।"

प्रथम महायुद्ध के दिनों में वह बन्दी बना लिये गए थे!

१९१५ की वसंत ऋतु में वह एक छोटे-से स्टीमर द्वारा नदी की यात्रा कर रहे थे। आस-पास वन का दृश्य था और उन्होंने देखा कि प्रकृति में चारों ओर संघर्ष चल रहा है। पेड़-पौधे तथा जंगल के जीव अपने जीवन को कायम रखने के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। उसी समय एक विचार उनके मन में आया—"क्या हम लोग एक-दूसरे का विनाश करके ही जीवित रह सकते हैं?" उस समय उनके हृदय में बड़ी दुविधा उत्पन्न हो गई। वह इस प्रश्न को हल नहीं कर पा रहे थे। दो दिन तक उनका स्टीमर चलता रहा और उनका दिमाग भी चक्कर काटता रहा। तीसरे दिन शाम को, जबकि सूर्यास्त का बड़ा सुन्दर दृश्य उनके सामने उपस्थित

था, एक साथ उनके मस्तिष्क में एक उज्ज्वल विचार उत्पन्न हुआ—'सर्व जीव दया' (रेवरेंस फॉर लाइफ़) मानों उन्हें जीवन-दर्शन की कुंजी ही मिल गई! तबसे वह समस्त संसारमें अपने सिद्धांत के लिए प्रसिद्ध हो चुके हैं। उन्होंने इस सिद्धांत का गंभीर मनन किया है और वह कुछ निश्चित परिणामों पर भी पहुंचे हैं। उनके सिद्धांत का सार यह है—"प्रत्येक प्राणी का जीवन पवित्र है और उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।" पर क्या हम हिंसा से पूर्णतया बच सकते हैं ? एल्बर्ट स्वाइटज़र का मत है—"कभी-कभी हिंसा हमें करनी ही पड़ती है। अपने मरीज़ों को बचाने के लिए हमें कीटाणुओं को नष्ट करना पड़ता है। लेकिन बिना किसी कारण के हमें यह अनाचार हरगिज नहीं करना चाहिए। दुनिया में कोई चीज़ इतनी छोटी नहीं है कि जो हमारी प्रेम-पात्र न बन सके। सच्चा अहिंसावादी किसी पेड़ की पत्तियों को भी नहीं काटेगा। मार्ग में चलते हुए वह कीड़ों-मकोड़ों को अपने पैर के नीचे आने से बचावेगा, यहांतक कि वह रात को खिड़कियां बंद करके लैम्प की रोशनी में काम करना पसंद करेगा, बजाय इसके कि खिड़की खोलकर परवानों को लैम्प पर आकर जलने दे।" एक बार एक पालतू हिरन ने उनके वर्षों के परिश्रम से लिखित एक ग्रंथ को ही चबा डाला, पर स्वाइटज़रसाहब उसपर बिल्कुल नाराज़ नहीं हुए। सिर्फ इतना ही कहा—"अरे भलेमानस, तू नहीं जानता कि तूने यह क्या कर डाला है !"

दीनबंधु ऐण्ड्रूज़ ने अपने एक लेख में लिखा है—"जब मेरी स्वाइटज़र से भेंट हुई तो उन्होंने फौरन ही मेरे समस्त हृदय पर अधिकार कर लिया। मैंने कभी उनके समान बच्चों की-सी स्वाभाविक सरलता का आदमी नहीं देखा। सबसे बड़ी मुश्किल यह थी कि वह अंग्रेजी नहीं जानते हैं और मेरा जर्मन अथवा फ्रेंच का ज्ञान बहुत अल्प है। खैर, किसी तरह हम लोगों ने इस मुश्किल को हल किया। हम लोगों की बातचीत शुरू से आखिर तक गांधीजी के संबंध में ही थी।

"भारत की परिस्थिति ने उनपर गहरा प्रभाव डाला था। उन्होंने

मुझसे कहा—'आपका और मेरा देश बहुत-कुछ एक-सा है। हम दोनों के देशों को पराजय उठानी पड़ी है और दोनों ही के देश आजकल पीड़ित हैं।"

"मैंने उन्हें महात्माजी के आश्चर्यजनक अस्त्र अहिंसा की बातें बताईं। स्वाइटज़र के वैज्ञानिक भाव जाग्रत हो गये और उन्होंने जैन-धर्म और अहिंसा शब्द के वास्तविक अर्थ आदि के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने यह भी पूछा कि भारत के धार्मिक जीवन में इस सिद्धांत का प्रभाव कितना है?

"मगर थोड़ी ही देर बाद हम लोग घूम-फिरकर पुनः महात्माजी के विषय पर पहुंच गये। सवाल पूछते-पूछते उनकी तबीयत ही नहीं भरती थी। वह बराबर प्रश्न-पर-प्रश्न करते जाते थे। हमारे दुभाषिया महाशय को मेरी बात उन्हें समझाने में विशेष कठिनाई होती थी। स्वाइटज़र को इस बात की बड़ी खुशी थी कि मैं महात्माजी के साथ रह चुका हूं और उनके निजी मित्र की हैसियत से उनकी बातें बता सकता हूं। बार-बार वह यही कहते थे—'आप बड़े भाग्यवान हैं।'

"हम लोग बड़ी रात तक बैठे हुए अहिंसा की बातें करते रहे। उन्होंने मुझसे कहा कि उनके जीवन का भी सबसे गंभीरतम सिद्धांत यही रहा है और महात्मा ने भारत के राष्ट्रीय संग्राम का इसे मूल सिद्धांत बनाकर बहुत ही अच्छा किया।"

कुछ दिन हुए स्वाइटज़रसाहब को शांति पुरस्कार मिला था।

जैसा कि हम कह चुके हैं, वह उन्चास बरस से अफ्रीकियों की सेवा कर रहे हैं। सहस्रों ही आपरेशन उन्होंने इस बीच में किये हैं और शायद कई लाख रोगियों का इलाज किया है और सबसे बड़ी खूबी की बात यह है कि यह कर्तव्य उन्होंने किसी परोपकार की भावना से नहीं किया, बल्कि वह समझते हैं कि गोरे लोगों ने काले आदमियों पर जो महान अत्याचार किये हैं, उनके प्रायश्चित्त स्वरूप ही मैं उनकी कुछ सेवा कर रहा हूं।

कुछ वर्ष पहले मैंने पढ़ा था कि संसार में प्रभु ईसामसीह के तीन अनुयायी सबसे महान् माने जा सकते हैं—एल्बर्ट स्वाइटज़र, दीनबंधु ऐण्ड्रूज और कागावा। इनमें से दीनबंधु ऐण्ड्रूज के साथ वर्षों तक काम करने का मौका मुझे मिला था और जापान के गांधी कागावा के दर्शन भी मैंने किये थे। मेरे मन में अभी एक लालसा बाकी है—यानी कभी-न-कभी अहिंसा के पुजारी एल्बर्ट स्वाइटज़र के चरणस्पर्श करने की।

●

हमारे नवीन प्रकाशन